छाप लग जाने से रूढ़िवादिता प्रदर्शित होने लगती है। उनमें से उदाहरण स्वरूप यह देखिये। आप लिखते हैं कि कैकेयी का विचार "भरत को राज्य दिलाना नहीं था, (वरन्) उसने ऋषियों की क्रान्ति-आयोजना में सम्मिलित होकर अथवा पार्ट अदा करने को राम के वन-गमन की माँग आग्रहपू क की"[२४] तथा "सीता ने अपशब्द बोलकर भी लक्ष्मण को पंचवटी से (इसलिये) दूर भेजा और लक्ष्मण की खा के अन्दर रावण का प्रवेश असम्भव जानकर देव मुनि-कार्यार्थ वे स्व ही बाहर (इसलिये) आ गईं"[२५] कि जिससे रावण उन्हें उठा ले जाय और राम का उससे युद्ध छिड़ जाय। कितनी असंगत और लोक-विपरीत बातें हैं, ये! यदि क्रान्ति-आयोजना में कैकेयी का हाथ था तो भरत के साथ चित्रकूट पहुँचने पर जब कि अभी क्रान्ति का श्रीगणेश भी नहीं हो पाया था वह अपने मन में अपने आप को कुटिल समझ कर क्यों अत्यन्त पछताती और पृथ्वी, यम वा विधाता से क्यों अपनी मौत माँगती, जैसा नीचे की पंक्तियों में कवि ने व्यक्त किया है—

'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई, कुटिल-रानि पछितानि अघाहीं
अवनि जमहि जांचति कैकेई, महिन बीच विधि मीचुन न देई।'[२६]

यदि कैकेयी को यही अभीष्ट था, तो क्या जरूरत थी कि वह उसी मथरा के साथ जो ऋषियों की क्रान्ति-आयोजना में सम्मिलित होकर उसकी सहयोगिनी थी, राजा से वरदान माँगने के बारे में एक पर्याप्त लम्बा-चौड़ा वार्तालाप करने तथा बड़ी कठिनाई के पश्चात् तत्सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार करने का स्वांग रचती, जबकि उस समय पास में उन दोनों के सिवाय तीसरा कोई व्यक्ति नहीं था। यह बात ठीक है कि कैकेयी ने राम को चौदह वर्ष

---

२४. मर्यादा पुरुषोत्तम राम, पृ० ५५
२५. ,, ,, ,, पृ० ५६
२६. मानस, अयोध्या कां० २५१।५०६

दण्डकवन में ही रहने के लिये राजा से वरदान माँगा—"तवपञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः"[२७] परन्तु यह सूझ कि राम को दण्डकवन में ही भेजा जाय कैकेयी खुद की नहीं हो सकती। वह हो सकती है उसी मंथरा की जिसने कैकेयी को ग्रामोफोन का रिकार्ड जैसा भर दिया था। यह सत्य है कि मंथरा और कैकेयी के वार्तालाप में केवल वन भेजने की, न कि दण्डकवन भेजने की बात आई है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वाल्मीकि जी ने उक्त वार्त्तालाप का एक-एक शब्द लिख दिया है, उसमें से कुछ छूट जाना भी सम्भव है। अतः कैकेयी-दशरथ के वार्त्तालाप में 'दण्डकारण्यमाश्रितः' आ जाने मात्र से उक्त विद्वान् लेखक का यह निदान निकालना कि कैकेयी का भाग क्रान्ति की आयोजना में था प्रामाणिक और युक्ति संगत नहीं है। यह भी सत्य माना जा सकता है कि रानी कैकेयी को अवध-राज्य के अशक्त सैन्य-बल तथा संकुचित कोष-स्थिति का ज्ञान होगा, परन्तु उसके कारण यह कहना कि उसकी यह इच्छा थी कि राम के भावी संग्रामों में अवध-राज्य पर कोई आंच न आने पावे और इसलिये उसने भरत को राज्य देने और राम को वन जाने की बात को स्थान देकर क्रान्ति की योजना तैयार की, उतना ही गलत है जितना कि दण्डकवन सम्बन्धी उपरोक्त विचार। ये विचार ऋषियों और मंथरा के ही हो सकते हैं। उन्हीं से प्रभावित होकर तथा मूल भाव को छिपाकर मंथरा ने कैकेयी को उल्टी पट्टी पढ़ाई और उससे दो प्रधान बातें करवाली एक भरत को राज्य और दूसरे राम को १४ वर्ष तक दण्डकवन में वास। राम ने स्वयं वशिष्ठ और विश्वामित्र के सम्मुख यही इच्छा प्रकट भी की होगी, क्योंकि जैसा हम पहले कह आये हैं, बिना त्याग तथा शत्रु अधिकृत-विभाग में जन-शक्ति-संगठन के उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता। श्रीकण्ठ शास्त्री ने जिस प्रकार कैकेयी को अस्वाभाविक आधार पर क्रान्ति में समेट मारा है उससे कहीं अधिक अस्वाभाविकता उन्होंने सीता को समेटने में बताई है। रावण के पास चले जाने का विचार सीता

---

२७. मर्यादा पुरुषोत्तम राम पृ० ३८ (वा० रा, अयो० कां १२।२६)

के मन में कब उठा, अपने आप उठा या राम ने उठाया, लक्ष्मण को विदित हुआ या नहीं, यदि लक्ष्मण को नहीं बताया तो क्यों नहीं बताया, हरे जाते समय रावण को खल आदि कहकर क्यों डाँटा और विविध विलाप क्यों किये इत्यादि-इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर देना कठिन है। यदि यह कहा जाय कि सीता पहले से सब जानती थी और राम भी पहले से सब जानते थे, जैसा कि उन्हें ईश्वर-रूप माननेवाले कहते हैं, तो राम-कथा में वर्णित मानव-चरित्र नाम के इस विस्तृत ढकोसला को कहने की आवश्यकता ही क्या थी? राम और सीता घर बैठे-बैठे जादू मंत्र फूँकते जाते या चुटकियाँ बजाते जाते और सारे काम का तमाशा ही एक पल में करके दिखा देते। यदि लीला का यही अर्थ है तो घर बैठे ही सब क्यों नहीं कर डाला? यह सब वनवास आदि का उम्फान ही क्यों रचा? अयोध्या से वन के लिये प्रस्थान करते समय सीता का राम के साथ जाने का मान-मनौआ क्यों कराया, एक बार नहीं दो बार। अग्नि में प्रवेश ही क्यों कराया? लक्ष्मण से रेखा ही क्यों खिचाई? इत्यादि। कहना और बताना कुछ, और करना कुछ और ही, ये ही क्या ईश्वरावतार के लक्षण हैं? यह तो ढोंग (hypocracy) ही हुआ न? इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है कि आदर्श पतिव्रता माहेश्वरी के विषय में यह कहा जाय कि वह स्वयं रावण की झोली में पहुँचने के लिये लालायित थी। यदि राम को यह मालूम हो जाता तो वह बेचारा ऐसी पत्नी के लिए कदाचित ही लड़ता। यदि शरम-संकोच-वश, अथवा सीता की करतूति की अनभिज्ञतावश लड़ता भी तो उस धोबी को तानाबाजी करने का अवकाश ही न आता, जिसके कारण राम ने सीता को त्यागा था, क्योंकि राम शायद उसे अपने साथ अयोध्या को लाते ही नहीं वहीं कहीं छोड़ आते!

इसलिये हमारा निष्कर्ष तो यही है कि विश्वामित्र को कुछ दिनों के चिन्तन के बाद अपनी बहिन के पौत्र परशुराम जी के सुयोग से राम को धनुष सौंपे जाने के रूप में क्रान्ति का जो बीज प्राप्त हो सका था वही उन्होंने वशिष्ठ

के सुपुर्द किया, और वशिष्ठ की मंत्रणा से उसी को गरीब पर चतुर और परिश्रमशील कृषक के समान मंथरा ने कैकेयी रूपी भूमि में बोया। प्रश्न यह है कि क्या राम का भी मंथरा के द्वारा किये गये इस बीजारोपण में हाथ था ? नहीं, नहीं था। दण्डकवन जाकर क्रान्ति करने की चिन्ता राम के सिर पर अवश्य नाच रही थी और गुरु वशिष्ठ के सम्मुख उन्होंने उसे एक से अधिक बार प्रकट भी की होगी, इसमें सन्देह नहीं। दण्डकवन पहुँचने के हेतु उनके सामने केवल तीन ही मार्ग थे। एक तो यह कि अवध के राजा बन सेना आदि लेकर वहाँ जावें। परन्तु ऐसा करने में उन्हें भारी राजनैतिक भूल और खतरा दिखाई दे रहा था, क्योंकि एक तो राज्य-शक्ति निर्बल थी, दूसरे कार्य इतना बड़ा था कि कई वर्षों तक राज्य छोड़कर बाहर शत्रुओं के बीच में रहे बिना उसका सिद्ध होना असम्भव था। इस लम्बे काल में राज्य की परिस्थिति में क्या-क्या आपत्तियाँ उस जमाने में आना सम्भव था, यह राम जैसे कुशाग्र बुद्धिवाले राजकुमार को जानना कठिन नहीं था। अतः यह मार्ग उचित नहीं ठहरा। दूसरा मार्ग था, राज्य छोड़कर ही चले जाना। ऐसा करने में मर्यादा-प्रेमी राम जैसे पुत्र के लिये पिता की आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। परन्तु पिता पुत्र से इतने आसक्त थे कि उनका पुत्र के बिना जीना (जीवन मोर राम बिनु नाहीं) असम्भव था। इस अतिशय मोह के कारण पिता की आज्ञा मिलना असम्भव थी। अतः इस मार्ग का ग्रहण करना भी नहीं हो सकता था। तब तीसरा मार्ग यह था कि पितादि की परवाह न कर चले जाना। ऐसी स्थिति में पिता का प्राणान्त हो जाना प्रायः निश्चित था। ऐसी दशा में पिता-घातक होने का पाप लगता। इसलिये यह भी उचित न समझा गया। राम की इन कठिनाइयों पर वशिष्ठ का ध्यान अवश्य आकर्षित किया गया होगा। अतएव देश की आवश्यकता तथा राम की दण्डकवन जाने की आतुरता एवं उक्त कठिनाइयों से प्रभावित होने पर वशिष्ठ जी ने 'सांप मरे न लाठी टूटे' वाली उक्ति के अनुसार ऐसा उपाय सोचा कि राम अलग के अलग रहें, और राज्य छोड़ वन जाने के लिए उन्हें पिता की सम्मति भी मिल जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर

वशिष्ठ और मंथरा ने उक्त दो वरदानवाली राजनैतिक चाल खेली। चूँकि मामला बड़ा गम्भीर था, इसलिये दोनों ने यह निश्चय कर लिया कि वह इतना गुप्त रखा जाय कि वह किसी तीसरे को विदित न होने पावे, तथा उसके सम्पन्न करने में विलम्ब भी न किया जाय, क्योंकि इतिहास इस बात का साक्षी है कि बिलम्ब के कारण राजनैतिक गुप्त मन्त्रणाओं का भंडा-फोड़ हो जाने से अनेक आयोजित कार्य निष्फल हो जाया करते हैं। तभी आप देखते हैं कि राजा-द्वारा राम के अभिषेक की बात कही जाने पर वशिष्ठ जी के भरत-शत्रुहन को बुलाने तथा अन्य सम्बन्धियों आदि को आमन्त्रित करने वगैरह का कोई प्रस्ताव राजा के सामने नहीं रखा, बल्कि 'बेगि बिलम्ब न करिय नृप, साजिय सबुइ समाज' कहकर उसे जल्दी से सम्पन्न कर डालने का सुझाव प्रस्तुत कर दिया और राजा ने भी उसे स्वीकार कर सचिवों को 'बेगि करहु सोइ सोइ' का आदेश दिया। यहाँ तो राजा को यह कहा कि अभि-षेक करने में विलम्ब न किया जाय, और वहाँ मंथरा के कानों में यह भर दिया कि जो कुछ होना हो सो आज ही की रात में हो जाना चाहिये ताकि राम को दूसरे दिन सुबह होने वाला राज्य-तिलक न हो पावे। मंथरा ने वही किया। उसने कैकेयी को 'होइ अकाजु आज निशि बीते, 'वचन मोर प्रिय मानहु जीते' कहकर ऐसे रंग पर चढ़ा दिया कि वह टस से मस नहीं हुई और रात भर में सारा पाँसा पलट दिया।

यह गुप्त रहस्य वशिष्ठ और मंथरा के अतिरिक्त किसी तीसरे ने नहीं जाना और रात भर में कार्य सम्पन्न हो गया। सुबह होते ही नगर भर में कोलाहल मच गया कि यह क्या हो गया, राज्य के बदले राम वनवास को जावेंगे यह बात घड़ी भर में फैल गई। सबके मुखों का रंग आश्चर्य और क्रोध के वश कुछ का कुछ हो गया। कैकेयी पर गालियों वा धिक्कारों की जगह-जगह पर बौछारें होने लगीं। पर राम के हृदय में हर्ष न समाया। राज्य-भार से मुक्त रहकर अब उन्हें पिता की आज्ञा से दण्डक वन में चौदह वर्ष रहने को मिलेगा, यह जानकर उन्हें अति आनन्द हुआ। वे कैकेयी, राजा दशरथ तथा माता कौशल्या से मिले और तीनों के सामने उन्होंने वन का जाना मंगलमय

बताया क्योंकि वहाँ मुनियों आदि का सत्संग तो होगा ही पर देशोद्धार से सम्बंधित पूर्व में निश्चित उत्तरदायित्व पूरा करने का योग भी मिल सकेगा।

कैकेयी से उन्होंने कहा—

मुनि सन मिलनु विशेषि वन, सबहिं भांति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥
'भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू, विधि सब बिधि मोहिं सन्मुख आजू।
जो न जाऊं वन ऐसेहु काजा, प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा॥'[२८]

राजा से वे कहते हैं—

'मंगल समय सनेह बस, सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हिय, कहि पुलके प्रभुगात॥'[२९]

कौशल्या से उन्होंने कहा—

'आयसु देहु मुदित मन माता, जेंहि मुद मंगल कानन जाता।'[३०]

तथा

'बरषि चारि दस विपिन बसि, करि पितु वचन प्रमान।
आय पाय पुनि देखिहहुं, मनु जनि करसि मलान॥'[३१]

रामचन्द्र को दण्डकवन जाने के लिए कितनी आतुरता थी, इसका पता इसी से लग सकता है कि जब वे पिता के पास सर्वप्रथम पहुँचते हैं तब उनके मन में यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं ऐसा न हो कि वे रोकने लगें। जब पिता कुछ न बोले और माता कैकेयी ने ही वरदानों की सब बातें अपने आप कह डालीं तो राम को ऐसा आनन्द आया मानो किसी नये

---

२८. मानस, अयोध्या कां० ४१; ४१।१–२
२९. मानस, अयो० कां० ४२
३०. मानस, अयो० कां० ५२।७
३१. मानस, अयो० कां० ५३

हाथी को बन्धन से मुक्त कर वन में जाने के लिए छोड़ दिया हो। पिता के पास से होकर जब राम माता कौशल्या से आज्ञा लेने जा रहे थे, उस समय उन्हें जो आनन्द हो रहा था उसका कवि ने यों वर्णन किया है—

'मुख प्रसन्नचित्त चौगुन चाऊ, मिटासोच जनि राखैं राऊ।"[32]

'नव गयन्द रघुवीर मनु, राजु अलान समान।
छूटजगनि वन गमन सुनि, उर आनन्द अधिकान॥"[33]

इन पंक्तियों को कहकर कवि यह निर्विवाद सिद्ध कर देता है कि राम पूर्व में आयोजित क्रान्ति के विचार से प्रभावित हो जाने के कारण वन जाने के लिए छटपटा रहे थे। उर में अत्यानंद, मन में चौगुना चाव, उत्साह और मुख पर प्रसन्नता उसी समय होती है जब किसी को अपनी मनोवांछित वस्तु प्राप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक बात और विशेष विचार-णीय यह है कि राज्य तथा राज्य-कुल से सम्बन्धित इस महान महत्वपूर्ण अवसर पर गुरु वशिष्ठ का कोई विशेष भाग न लिया जाना इस तात्पर्य पर पहुँचाता है कि राम और वशिष्ठ दोनों पहले ही से एक दूसरे के मन की बात जानते थे। केवल इतना ही हुआ कि राम वन जाते समय गुरु के द्वार के सामने से निकले और वहाँ कुछ देर खड़े ए तब उन्होंने लोगों को विरह में देखा और सब को प्रिय वचनों के द्वारा समझाया, दास-दासियों को बुला कर गुरु को सौंपते हुए उनसे कहा "सब कर सार सँभार गुसाईं। करब जनक जननी की नाईं।" गुरु जी कुछ नहीं कहते और राम सब को समझाकर तथा गुरु के चरण कमलों पर सिर नवाकर हर्षपू क रवाना हो जाते हैं। चूँकि क्रान्ति से वशिष्ठ जी का सम्बन्ध था, इसलिये उन्होंने राम से उनके वन गमन के विषय में कुछ कहना आवश्यक नहीं समझा।

---

३२. मानस, अयो० कां० ५०।८

३३. मानस, अयो० कां० ५१ (रघुवीर मनु के स्थान में "रघुवंश मनि" भी पाठ मिलता है)

इस तरह हमने क्रान्ति का बीज बोया जाना देख लिया, और उसका वह अंकुर भी देख लिया जिसे पाकर राम ने आनन्दमग्न हो वन के लिये प्रस्थांन किया। अब हमें उनका वह रूप देखना है जो प्रत्यक्ष रूप से चौदह वर्ष तक क्रमशः विकसित होता गया। इस प्रत्यक्ष रूप को समझने में उतनी कठिनाई न होगी जितनी हमें उसके अप्रत्यक्ष बीज रूप के जानने में उठानी पड़ी, क्योंकि अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष की अपेक्षा सामान्यतः दुर्गम होता है।

अब एक बार फिर से कुछ अधिक विवरण के साथ आप तत्कालीन भारत के भौगोलिक और राज्यकीय विभागों को ध्यान में लाइये। इस हेतु जैसा कि हम अभी पहले कह आये हैं, हमने उपलब्ध सामग्री तथा अंशतः अपने आवश्यक अनुमान के आधार पर भारतवर्ष का एक रफ-सा नकशा दिया है। उसके तैयार करने में हमने वाल्मीकि रामायण और विष्णु पुराण की, तथा डा० ताराचन्द कृत 'हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास' में उनके द्वारा दिये हुए 'वैदिक तथा बौद्ध-कालीन भारत के नकशा', एवं चार्ल्स जोपेन द्वारा निर्मित भारत के ऐतिहासिक एटलस (Historical Atlas) में दिये हुए नकशा नं० २ (प्राचीन आर्य-कालीन भारत) से सहायता ली है। जोपेन सा० ने अपने नकशा के स्पष्टीकरण के लिये एक टिप्पणी दी है, जिसका आवश्यक अंग हमने इस अध्याय के फुट नोट नं० १३ में उद्धरित किया है। उसका हम यहाँ हिन्दी अनुवाद लिख देना आवश्यक समझते हैं ताकि हमारे नकशा का जितना भाग उनके नकशा पर आधारित है वह सही-सही समझ में आ जावे। उन्होंने कहा है कि—

"रामकथा का कम से कम कुछ भाग गोमती, सरयू और ऐरावती के किनारे, कौशल देश में जिसकी राजधानी अयोध्या थी, और मिथिला-राज्य में जिसकी राजधानी जनकपुर थी, कार्यान्वित हुआ। गंगा के दक्षिण से लेकर गोदावरी तक, दण्डक नाम का एक बड़ा भारी वन था। अन्य और दूसरे विभागों (Countries) के विषय में जिनका उल्लेख महाकाव्य में हुआ है, निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता।. . . .कुछ कौशल लोग दक्षिण की ओर भ्रमण करते गये और विन्ध्या के दक्षिण एवं नर्मदा तथा

वेन (वेन गंगा) के किनारों पर बस गये। दूसरे आर्य लोग गोदावरी, पयोषिनी (ताप्ती) पर, तथा पयोषिनी के दक्षिण में प्रभास नामक समुद्री किनारे पर बसे।"

इस तरह हमने अपने नकशा में जोपेन सा० के एटलस के आधार पर गंगा और गोदावरी के बीच में उन्हीं दो स्थानों पर 'कौशल' बताया है, जहाँ उन्होंने उसे अपने नकशा में दर्शाया है। इससे सिद्ध होता है कि अवध-राज्य का आधिपत्य कम से कम नर्मदा और गोदावरी के उत्तर तक था। जोपेन सा० के लेखानुसार आर्य लोग पश्चिमी किनारे की घाटियों (प्रभास) में भी फैल गये थे, जिससे प्रतीत होता है कि चक्रवर्ती अवध-राज्य का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने आश्रित या मित्र राजाओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ तक अवश्य ही किसी न किसी मात्रा में रहा होगा। और अब हमें वाल्मीकि रामायण में यह पढ़ने को मिलता है कि बालि की राज्य-भूमि इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के आधीनस्थ थी, तथा अब हम यह अनुसन्धान लगाते हैं कि इस बालि-राज्य की सीमा उत्तर में गोदावरी, पश्चिम में प्रभास की घाटियाँ, दक्षिण में समुद्री तट पर महेन्द्राचल जो तत्कालीन अन्तरीप (अब कन्याकुमारी) तक छुआ होगा, और पूर्व में बंगाल समुद्र था, तब हमें यह निश्चय सा प्रतीत होने लगता है कि रामचन्द्र जी के किन्हीं पूर्वजों के समय कौशल-राज्य की छत्र-छाया अवध से लेकर कन्याकुमारी तक फैल चुकी थी। फिर यह, कैसे, क्यों और कब-कब घटती गई, और अब वह पुनः पूर्ववत् कैसे बने, यही समस्या राम के सम्मुख उस समय उपस्थित हुई जब वे अयोध्या को छोड़ दक्षिण की ओर वन को चले। उन्हें विदित हुआ कि इस सब गड़बड़ी का मूल कारण है रावण। रावण ने जब से भारत भूमि पर आँख गड़ाई और इधर-उधर आक्रमण करना प्रारम्भ किया, तब से अवसर पाकर अवध के चक्रवर्तान्तर्गत आश्रित राज्याधिकारी स्वतंत्र होते गये और रावण स्व यत्र-तत्र अपने अड्डे (उपनिवेश) जमाता गया। उसके वे अड्डे वही ताड़िका (मारीच) और सुबाहुवाले तथा खर और दूषणवाले थे जिनके विषय में पहले कहा जा चुका है, और जिनका स्थान हमने अपने

पूर्व कथित नकशा में तत्सम्बन्धी विवरणों को ध्यान में रखते हुए अपने अनुमान से बताया है। प्रतीत होता है कि जब रावण ने भारत पर आक्रमण प्रारंम्भ किया उस समय वानर जाति का कोई सरदार अथवा बालि स्वयं भारत के अत्यन्तिक दक्षिण में किसी छोटे-मो भू-भाग पर अवध नरेश का आधिपत्य स्वीकार कर राज्य करता था। परन्तु जब से रावण के उत्पात शुरू हुए और कौशल-राज्य की सुदूर राजधानी अयोध्या की शक्ति का ढीला पड़ना प्रारम्भ हुआ तभीसे बालि ने स्वतंत्रता की घोषणा करदी और क्रमशः अपना राज्य उत्तर की ओर गोदावरी तक बढ़ाता गया। ऐसे अच्छे अवसर को पाकर रावण ने यही लाभदायक समझा कि निकटवर्ती बलवान बालि से न जूझा जाय, बल्कि जहाँ अवध की सैनिक शक्ति निर्बल हो वहीं धँसकर अपने अड्डे जमाना प्रारम्भ कर दिये जायँ। यही उसने किया और क्रमशः उक्त उपनिवेश स्थापित कर लिए। केन्द्रीय शक्ति के इस ह्रास के कारण जो अराजकता फैली उसी का लाभ उठाकर जब उपनिवेश जमा लिये गये तब रावण ने स्वयं तथा उक्त निवेशाधिकारियों के द्वारा प्रजा तथा अन्य भारतीय निवासियों वा राजाओं को व्यथित करना प्रारम्भ कर दिया। यहां तक कि उसने बालि पर ही धावा बोल दिया। परन्तु बालि से वह जीत न सका और उससे संधि करना पड़ी जैसा पहले कह आये हैं। इसके विपरीत यदि यह माना जाता है कि खरदूषणादि के अड्डे जमने के पूर्व से ही बालि रावण से अधिक बलवान था और उसका राज्य गोदावरी तक विस्तृत था तो उसको पार करके उत्तरीय विभाग में उक्त अड्डों का जमाया जाना तर्क-क्षेत्र के बाहर की बात हो जाती है। हमारे उक्त तर्क को यदि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित करने की आवश्यकता समझी जाय तो उस 'देवासुर' संग्राम का स्मरण कीजिये जिसमें दशरथ ने कैकेयी के साथ भाग लिया था। आर्य लोग अप आपको देव या सुर संज्ञा से विभूषित करते थे और अनार्यों वा राक्षसों को असुर-दस्यु आदि कहते थे। इसलिये जब उक्त कारणों से बालि का राज्य स्वतंत्र होकर ोदावरी तक विस्तृत हो गया और रावण के काफी विस्तृत उक्त उपनि श स्थापित हो गये तब अनार्यों या राक्षसों ने अथवा

दोनों ने कंधे से कंधा मिलाकर अवध-राज्य को गोदावरी के उत्तरीय भाग पर से भी पीछे भगाना चाहा। अतः दोनों पक्षों के बीच युद्ध छिड़ा, जो देवासुर संग्राम नाम से विख्यात है। यह युद्ध दण्डकवन के बाहर, पर उसके समीप वैजयन्त नामक पुर के ईर्द-गिर्द हुआ था। इस स्थान पर एक अनार्य राजा निमिध्वज (जो शम्बर भी कहलाता था) ने अपना अधिकार जमा रखा था। राक्षसगण उसके सहायक थे। अपने-अपने स्थायित्व के हेतु उनमें और आर्यों (अर्थात् देवताओं) में युद्ध छिड़ गया। राजा दशरथ चक्रवर्ती के नाते आर्यों की ओर से युद्ध में लड़ने के लिये बुलाये गये। वे कैकेयी को साथ लेकर युद्ध-क्षेत्र में पहुँचे। परन्तु उनका सारा शरीर छेद डाला गया और वे रण-क्षेत्र से भाग उठे। फिर भी शत्रुओं ने पीछा किया और कैकेयी बड़ी कठिनाई वा चतुरता से उन्हें बचाकर घर ला सकी।[३४] यह घटना इस बात को सिद्ध करती है कि इस युद्ध के पश्चात् अवध-राज्य का बचा-खुचा राजनैतिक महत्त्व नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। अनार्यों वा राक्षसों द्वारा दशरथ का इस प्रकार घायल किया जाना तथा उनको मुश्किल से मृत्यु से बचा पाना ये बातें राम के हृदय में तीर जैसी चुभ गई थीं।

यद्यपि वालि-राज्य के विस्तार, खरादि के निवेशों तथा उक्त युद्ध ने उत्तर की ओर प्रायः जमुना तक आर्यों की जड़ हिला दी थी, तथापि भारत के उस पश्चिमी भाग पर जो नर्मदा के उत्तर में पड़ता है अभी भी आर्यों की कुछ सत्ता शेष थी। यदुवंश के राजा महिष्मान ने माहिष्मती (उज्जैनी या उज्जैन) नाम की राजधानी बसाई थी। महिष्मान के बाद की छठ ीं पीढ़ी में अर्जुन नाम का राजा हुआ वह तपस्यावश सहस्रबाहु कहाया। इसलिये वह सहस्रार्जुन नाम से भी विख्यात है। वह महाबली था। पूर्वोक्त युद्ध में जब राजा दशरथ की धाक का खातमा हो गया तब रावण ने सहस्रार्जुन की राजधानी पर उस समय आक्रमण किया जब वह अपनी रानियों के साथ नर्मदा में जल-विहार कर कहा था। सहस्रार्जुन ने उसे अच्छा पाठ

---

३४. वा० रा० अयोध्या कां० ९।१२-१६ के आधार पर

पढ़ाया और पशु के समान बाँधकर उसे निर्जन वन में रख छोड़ा (कोई कहते हैं उसे अपनी घुड़साल में ही बांध रखा। बँधे रहने के कुछ दिनों बाद अन्य बड़ों की मिन्नत करने पर वहीं छोड़ दिया गया। परन्तु उस महाबली सहस्रबाहु को भी अन्ततः अपने दुष्कर्मों के कारण परशुराम के फरसा के द्वारा मौत के घाट उतरना पड़ा।[३५] परिणाम यह हुआ कि सहस्रबाहु के मर जाने पर भारत का यह भू भाग भी अनार्यों वा राक्षसों के अत्याचारों के लिये खुल-गया। केवल एक छोटा सा भाग गृद्ध-राज्य का रह गया था, जहाँ कौशलपुर के राजा का सम्मान कुछ शेष था। परन्तु उक्त परिस्थितियों में वह चहुँ-ओर से इस खतरे में घिरा हुआ था कि न जाने कब इस सम्मान को यहाँ से भी कूच करना पड़े।

इस तरह आपने देखा कि राक्षसों वा अनार्यों का यह प्रबल प्रवाह किस तेजी के साथ उत्तर की ओर बढ़ता जा रहा था? यदि यह कहा जाय कि एक ओर उसके धक्कों ने जमुना के दक्षिणी किनारे तक अपना प्रभाव बताना प्रारम्भ कर दिया था, तथा दूसरी ओर, सहस्रार्जुन के मारे जाने पर पंच-नद (पंजाब) की ओर भी उसका बढ़ना सम्भव हो रहा था, तो सत्य ही होगा। देश की इस भयावह स्थिति में आप नवयुवक राम को केवल धनुष और बाण को साथ में लेकर उसी ओर प्रस्थान करते देखते हैं जहाँ से यह प्रलयकारी प्रवाह बढ़ता हुआ चला आ रहा था।

---

३५. नारद-विष्णु पुराणांक (कल्याण) पृष्ठ ७२६,७२७

नोट—सहस्त्रबाहु का अर्थ लोग हजार भुजाओं का उसी तरह लगाते हैं जैसे रावण को बीस भुजाओं का बताते हैं। हमारी समझ में इसका अर्थ उसी प्रकार से लगाना चाहिए जिस प्रकार आधुनिक किसी मशीन (यंत्र) की ताकत हम घोड़ों के मान (horse-power) **से बताते हैं। इस दृष्टि से रावण का बाहुबल दस पुरुषों के बराबर और सहस्त्रबाहु का पाँच सौ पुरुषों के बराबर था, जब कि एक पुरुष** (unit) **की ताकत किसी सर्वमान्य नियम** (standard) **के अनुसार हो।**

सीता और लक्ष्मण न माने, इसलिए उन्हें साथ लेकर राम राजमहल से निकल बाहर नगर के आ पहुँचे। राजा की आज्ञानुसार सुमन्त ने उन्हें रथ पर बैठाया! नगरवासी प्रेम-वश रथ के पीछे-पीछे हो लिये। प्रथम रात्रि को तमसा नदी के तीर पर वास किया। चूँकि नगर-निवासी प्रेमवश साथ नहीं छोड़ना चाहते थे इसलिये अर्द्धरात्रि के समय उन्हें सोते हुए छोड़ रथ के चिह्न मार कर आगे बढ़ गये, और गंगा के किनारे शृंगवेरपुर पहुँचे। निषाद (गुह) ने वहाँ उनका स्वागत किया, और दूसरी रात्रि वहीं सिसुपा वृक्ष के नीचे घास-पात का बिछोना डाल विश्राम किया। तीसरे दिन सबेरे गंगा-स्नान किया और वट-क्षीर मँगाकर "अनुज सहित सिर जटा बनाये।" सुमन्त ने, राजा के आदेशानुसार राम को लौट चलने अथवा सीता को वापिस भेजने के लिए बड़ा आग्रह किया, पर उसके सब प्रयत्न असफल हुए। तब सुमंत निराश होकर रथ लौटाता है, और इधर रामादि निषाद-राज की नौका पर सवार होकर गंगा के उस पार पहुँच जाते हैं। निषाद साथ हो लेता है, और उस दिन वट-वृक्ष के नीचे वास किया जाता है। चौथे दिन तीर्थराज (प्रयाग) को देखते हैं और त्रिवेणी में स्नान कर भारद्वाज आश्रम में पहुँच रात्रि को वहीं विश्राम करते हैं। पाँचवें दिन उक्त आश्रम के चार वटुओं (शिष्यों को मार्ग दिखाने के लिये साथ लेकर जमुना को पार किया और उन शिष्यों को लौटा दिया। इसके बाद जैसे-जैसे राम मार्ग से बढ़ते जाते हैं और वन में प्रवेश करते जाते हैं, तैसे-तैसे गाँव-गाँव के पुरुष-स्त्री रामादि से वार्तालाप करते तथा उनका स्वागत करते जाते हैं। इस तरह जमुना पार करने के बाद चलते-चलते वे एक 'शीतल पानी' से भरे स्थान पर रात को टिक जाते हैं। प्रतीत होता है कि वह यात्रा की पाँचवीं ही रात है। छठवें दिन वाल्मीकि जी के आश्रम पहुँचते हैं और सम्भवतः सातवें दिन वाल्मीकि जी के बताये जाने पर वे मंदाकिनी नदी के निकट चित्रकट गिरि पर जहाँ अत्रि आदि बहुत से मुनिवर बसते थे निवास जमा लेते हैं। वहाँ तापस, मुनि, कोल, किरातादि जंगलवासी नित्य प्रति राम की पर्णकुटी पर आने-जाने लगे, और धार्मिक बातों से सनी हुई कथा-कहानी तथा आवश्यक वार्ता-

चर्चायें होने लगीं। चित्रकूट से निषाद जब लौटता है तो सुमन्त को अति व्याकुल दशा में वहीं पाता है जहाँ उसे छोड़ा था। वह उसे धीरज बँधा कर तमसा के किनारे तक पहुँचा आता है। वहाँ से सुमन्त अयोध्या पहुँचते हैं, तथा उनके पहुँचने के बाद राजा दशरथ का प्राणान्त हो जाता है। राजा के देहान्त के पश्चात् भरत-शत्रुघ्न अयोध्या आते हैं और फिर राम से भेंट करने तथा उन्हें लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुँच जाते हैं। मातादि के अतिरिक्त गुरु वशिष्ठ भी साथ में गये। उधर कुछ दिन बाद जनकपुर से रानी आदि समेत राजा जनक भी कौशिक (विश्वामि) आदि मुनियों के साथ पहुँच जाते हैं। चित्रकूट में हुए सम्वाद को विचारपूर्वक पढ़ने से ज्ञात हो जाता है कि भरत जी को किसी प्रकार जैसा कि आगे स्पष्ट होगा, राम का वन आने का रहस्य प्रकट होता है। तभी तो आप देखते हैं कि उनकी जो प्रबल इच्छा थी कि राम लौट जा ें वा राज्य हण कर लें इसे वे स्वयं त्याग देते हैं, और कुछ वार्तालापों के बाद अपने आप ऐसा निर्णय कर रामादि के सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं जिससे राम को वन से न लौटना पड़े और खुद को भी राज्याधिकारी न बनना पड़े। यह निर्णय सबको सहर्ष स्वीकार हो जाता है और भरत जी चरण-पादुकायें ले अयोध्या लौट राम की ओर से एक तपस्वी सेवक के समान राज्य को सम्हालने में लगते हैं। नंगे पैर चलनेवाले राम के पास भरत को देने के लिये पादुकायें कहाँ से आ गईं, तथा भरत को सौंपने के अन्त त उनका आख्यानिक और भावात्मक क्या क्या रहस्य है, एवं इस प्रसंग में तुलसीदास जी ने स्वार्थ-परमार्थ पुरुषार्थ, सेवक-स्वामी तथा राजधर्म का तत्वानुसन्धान किस उत्तमता से किया है, ये सब विषय बड़े गंभीर सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं। परन्तु हस्तस्थ विषय से असम्बन्धित होने के कारण उन पर कुछ कहकर विस्तार बढाना अनुचित होगा। प्रसंग से सम्बन्धित एक बात ध्यान देने योग्य यह अवश्य है कि राम का भरत पर असीम स्नेह था, यहाँ तक कि देवताओं तक को भय हो उठा था कि कहीं ऐसा न हो कि राम भरत के आ हवश वन से लौट जावें और पूर्व परिचित क्रान्ति का सारा खेल ही मिट जावे। इसी संभावना के वशीभूत हो, हमारी समझ में, राजा

जनक के साथ विश्वामित्र जी भी दौड़े हुए चित्रकूट पहुँच जाते हैं हालाँकि वे जानते थे कि उक्त संभावना को न घटने देने के लिए भरत के साथ वशिष्ठ जी पहुँच ही चुके थे। फिर भी 'एक से दो अच्छे होते हैं' यह सोच कर ये आ ही गये और उनका आना अच्छा ही हुआ। उनके आने के पहले वातावरण यहाँ तक आ गया था कि राम ने वशिष्ठ जी से भरत और सब समाज के सामने यह कह दिया कि आप जैसा कहें वही किया जाय। यह सुन वशिष्ठ जी सिपड़ गये और राम से बोल उठे कि आपने मुझ पर इस सिर-सौंप करने के पहले यह नहीं विचारा कि भरत का स्नेह कितना प्रभावक है, 'भरत सनेह विचार न राखा'; मेरी मति तो उनकी भक्ति के वश होकर कुछ काम ही नहीं कर रही है, इसलि े भरत जो कहें वही आप कीजिये। तब राम ने भरत से ही पछना शुरू कर दिया और कहने लगे 'जो तुम कहो वही करूँ।' भरत जी ने यह सुन राम जी के सामने उन्हें तिलक-साजने के तथा उनके वापिस लौटने के कुछ ऐसे प्रस्ताव रख दिये जिनसे उनका रुख स्पष्ट ज्ञात हो गया कि वे चाहते हैं कि राम राजा बनें और घर लौट जावें, हालाँकि इसका अन्तिम निर्णय करना भरत ने राम पर ही छोड़ दिया। परन्तु अपने ही ऊपर इस सिर-सौंप को देख राम बड़े संकोच में पड़ चुप रह गये—
'चुप हि रहे रघुनाथ सँकोची, प्रभु गति देखि सभा सब सोची।'

इस दुविधा में राम हो ही रहे थे कि राजा जनक के आने की खबर दूत लाये। मामला ने पलटा खाया। राजा जनक के साथ विश्वामित्र भी आ पहुँचे। फिर अयोध्या और जनकपुर दोनों के समाज स्नान करने के बाद वट वृक्ष के नीचे बैठते हैं। वहीं पर वशिष्ठ, सतानन्द आदि उन लोगों के, 'जिन्ह जगमगु परमारथ सोधा', था 'सहित धरमनय विरति विवेका' वाले उपदेश होने लग गये। विश्वामित्र भी वहाँ थे ही उन्होंने भी अपने ढंग से परमार्थ-मार्ग वाली कथाओं को सुनाया—

'कौसिक कहि कहि कथा पुरानी, समुझाई सब सभा सुबानी'[३६]

---

३६. मानस अयोध्या कां० २७७।४

उस समय वहीं पर भरत भी उपस्थित थे। इस प्रकार की पुरानी-पुरानी कथायें कहते समय अन्य उक्त उपदेशकों, विशेषतः विश्वामि ने देश की तत्कालीन शोचनीय परिस्थितियों से मुक्त होने के हेतु कर्त्तव्य-परायणता पर कुछ न कहा हो, यह सम्भव नहीं। उक्त चौपाई में 'कहिं-कहिं' और 'समुझाई' शब्दों को लाकर कवि ने, प्रतीत होता है, कौशिक के इसी भाव की विशिष्टता पर जोर दिया है। यह भो सम्भव है कि उक्त सभा के विसर्जन होने के पश्चात् भी समय पाकर भरत से एकान्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र या राम ने स्वयं देश के प्रति जो राजधर्म निबाहना आवश्यक हो रहा था उसे एक-दो बार और कहा हो। ग़रज़ यह है कि कौशिक के आने के पूर्व जो स्थिति असमञ्जस में पड़ बै ी थी वह सुलझ गई। सब को, विशेष कर भरत जी को राम का 'परमार्थ' अथवा 'सर्व-हित' के हेतु उस वन-विभाग में रहना जँच गया, क्योंकि आखिरकार भरत भी तो एक लोकोपकारी विद्वान् राजकुमार थे। अकलमन्द को इशारा काफी होता है, इस लोकोक्ति के अनुसार भरत के ध्यान में शीघ्र ही आ गया कि राम का अयोध्या त्याग कर वन में रहना ही श्रेयस्कर है। इसलिए ज्यों ही राम के वन आने का रहस्य प्रकाश में आया, त्यों ही भरत की विचार-धारा का रुख बदल पड़ा और वे राजा जनक से कहने लगे --

"प्रभु प्रिय, पूज्य पिता सम आपू, कुल गुरु सम हित माय न बापू।
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू, ज्ञान अम्बु निधि आपुन आजू॥[३७]॥

× × ×

राखि रामरुख धरम वृत्त, पराधीन मोहि जानि।
सब के संमत सर्वहित, करिय प्रेम पहिचान॥[३८]॥

---

३७. मानस अयोध्या कां० २९२।२.३

३८. ,, ,, ,, २९३ (नोट—'पराधीन मोहि जानि' का अर्थ है 'राम का सेवक।' इसी प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि 'स्वामी-धर्म और स्वार्थ में विरोध है' (२९२।८) अर्थात् सेवकाईवाले को न स्वार्थ

'सर्वहित' की भावना से प्रेरित जब स्वयं भरत जी का उक्त प्रस्ताव रामजी के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो वे प्रसन्न होकर भरतजी से कह उठते हैं कि बस ! इसी में हमारा, तुम्हारा सबका कल्याण है, क्योंकि —

"माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू, हमहिं तुम्हहि सपनेहुँ न कलेसू।
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ, स्वारथ सुजसु धरम परमारथ ॥"[३९]॥

इस प्रकार राम का वन में रहने का रहस्य दोनों समाज के लोगों को प्रकट हो गया। भरत को पाँव ी (पादुकायें) मिलने पर जीवन का आधार मिल गया—उन्हें सन्तोष वा शान्ति हो गई। सब लोगों को कैकेयी की जो कुचालीं दिखती थी वा जिसके कारण सब बड़े व्याकुल हो रहे थे वही नीकी लगने लगी और सब आशामय होकर अपने घर लौट गये—

"सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी, अवधि आस सम जीवनि जी की।
नतरु लखन सिय राम वियोगा, हहरि भरत सब लोग कुरोगा ॥"[४०]

इधर सबके लौट जाने पर राम-सीता-लक्ष्मण कुछ दिनों तक चित्रकूट में और रहे और जब उन्होंने देखा कि लोगों से परिचय बढ़ता जाता है और भीड़ बढ़ती जाने की सम्भावना हो रही है तो स्थानीय मुनियों आदि से बिदा होकर वे वहां से दक्षिण की ओर आगे के वन में चले। पहिले अत्रि-आश्रम में पहुँचे, जहां अत्रि मुनि और उनकी पत्नी अनसुइया के दर्शन प्राप्त किये। इसके बाद विराध असुर को मारा। तत्पश्चात् क्रमशः मुनि सरभंग, सुतीक्ष्ण और फिर उनके गुरु कुंभज (अगस्त) ऋषि के आश्रमों में होते हुए दण्डक वन में गोदावरी के निकट पंचवटी पहुँचे। वहीं कहीं पास में गीधराज,

---

से प्रयोजन न परमार्थ से। उसे तो स्वामी की आज्ञा से मतलब है, क्योंकि वही स्वामी अपने आप इन सब बातों पर विचार कर लेता है।

३९. मानस अयोध्या कां० ३१४।२–३ (नोट—गुरु=वशिष्ठ; मुनि=विश्वामित्र)।

४०. मानस, अयोध्या कां० ३१६।१-२

जटायु से भेंट हुई और दोनों के बीच में प्रीति बढ़ी। वहीं 'पंचवटी' के पास गोदावरी के निकट पर्णकुटी बनाकर राम रहने लगे। चित्रकूट से पंचवटी आने तक राम को अनेक वनवासी वा आश्रम-वासी ऋषि-मुनियों एवं उनके शिष्यों से तथा अन्य ऋषि-मुनि-वृन्दों से भेट होती गई, जिससे उन्हें उनके कष्टों का ज्ञान बढ़ता गया। सरभंग मुनि से भेंट होने के पश्चात् एक स्थान पर उन्होने जब एक अस्थि-समूह को देखा तो मुनियों से उसका कारण पूछा। उन्होंने स्वभावत: करुणापूर्ण शब्दों में कहा—'जानत हूँ पूछिय कस स्वामी'—निसिचर निकर सकल मुनि खाए।' तब यह सुनि 'रघुवीर नयन जल छाए', और उसी समय उन्होंने यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर घोषित कर दिया कि मैं पृथ्वी पर राक्षसों का नामोनिशान नहीं रहने दूंगा—तथा वे सबके आश्रमों पर जा-जा कर उन्हें निर्भीक और प्रसन्न करने लगे।

'निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥'[४१]॥

क्रान्ति का यह चौथा गुरिया है; प्रथम परशुराम का धनुष सौंपना, दूसरा मंथरा आदि का गुप्त उपाय तथा राम का वन को प्रस्थान करना, तीसरा चित्रकूट में सबको रहस्य का प्रकट होना, और चौथा निसिचर हीन करने का प्रण ठानना। बहुत सम्भव है, पाठक इस बात पर हमसे कुपित हो उठें कि हमने उनका बहुमूल्य समय राम की यात्रा की चर्चा ही में व्यर्थ खो दिया। यहां गये वहाँ गये, इस मुनि से मिले, उससे मिले, इन सब छोटी छोटी बातों को कहने की क्या आवश्यकता थी, आप पूछेंगे ? यदि इस युग में भी जब सम्पर्क प्रचार और यात्रा के साधन शीघ्रगामी यंत्र हो गये हैं, महात्मा गांधी ने स्वराज्य की क्रान्ति मचाने के लिए दक्षिण आफ्रिका में वा 'डण्डो मार्च' जैसी हिन्दुस्तान में सैकड़ों मीलों की पद-यात्रा करना लाभदायक समझा था तथा विनोबा भावे आज भी मनोवृत्तिक दैवी क्रान्ति मचाने के

---

४१. मानस, अरण्य कां०, ९

लिये सहस्रों कोसों की पद-यात्रा को लाभदायक सिद्ध कर रहे हैं, तो उस प्राचीन युग में, विशेष कर उस भू-भाग में, जो वन-प्रधान होने के कारण सुलभ मार्गी नहीं था, उस राम के लिए जो जन-मत संग्रह करके 'निसिचर-हीन महि करने वाली' क्रान्ति मचाने के हेतु तपवती हो घर से बाहर निकला था, पद-यात्रा करना उतना ही आवश्यक था जितना कि भूखे को भोजन। उसे वही समझ सकता है, जिसने अपना तन-मन-धन लोक-कल्याण के लिए दे रखा हो। आज के रेलों, मोटरों वा वायुयानों में पल इधर, पल उधर छछूंदर जैसी दौड़ लगाकर सभा-सोसाइटियों में लम्बे-चौड़े-थोथे व्याख्यान देने वाले जन-सम्पर्की नामधारी लोग क्रान्ति के इस प्रारम्भिक, परन्तु आवश्यक अंग को क्या समझें?

अत्याचारों के प्रति जब तक जनता की मृतात्मा में चेतना वा निर्भीकता जागृत नहीं की जाती तब तक किसी क्रान्ति का श्री गणेश नहीं किया जा सकता, और यदि किसी ने कर भी दिया तो वह अल्प काल ही में निष्फल होकर समाप्त हो जाती है। यह जागृति केवल वक्ताओं द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। उसे वही जगा सकता है, जो चलते-फिरते अथवा बैठते-उठते नित्य प्रति साधारण जन के सम्पर्क में अपने सदाचार-प्रधान जीवन का उज्ज्वल दृष्टान्त जनता के सन्मुख प्रस्तुत करता है। यही राम की पद-यात्रा का रहस्य है। उन्होंने अपनी इस पद-यात्रा के कारण ही बन के कोने २ में वनवासियों, तथा क्षत्रित्व और ब्राह्मणत्व के संयोग को भुलाकर केवल ब्राह्मणत्व को पकड़कर रह जाने वाले ऋषि-मुनियों में निर्भीकता का संचार किया। इस तरह राम ने आततायियों के विरुद्ध जन-मत का एक ऐसा तूफान उठा दिया कि उसका शोर चहुँ ओर मच गया और जहाँ देखो वहाँ राम के प्रताप वा पवित्र जीवन की चर्चा फैल उठी।

जब किसी प्रतापी पुरुष के यश-गान की प्रशंसात्मक ध्वनि इस तरह फैलने लगती है तब उसके भिन्न भिन्न श्रोताओं पर भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ने लगता है। दूर दूर के श्रोता उसके विषय में अपनी अपनी भावनाओं अथवा मनोवृत्तियों की दृष्टि से कल्पनायें बाँधने लगते हैं। एक

ओर, अत्याचारी उसे शत्रु के रूप में देखते हैं तो दूसरी ओर साधु-सज्जन अथवा धर्मानुरागी उसको धर्म-रक्षक स्वामी के रूप में पूजते हैं। सती-साध्वी नारियां उसे पुत्र-भाई आदि के रूप में पाती हैं तो कामतप्ता के मनमें उसके साथ दूरी भोग-विलास की लालसा तड़फड़ाने लगती है। यही कारण है कि कहीं कुछ दूरी पर अपने भाइयों खर-दूषण के साथ जन-स्थान में रहनेवाली स्वच्छन्द और कामतप्ता सूर्पणखा पंचवटी के पास रामाश्रम में राम के पास अपनी दुर्भावना को लेकर पहुँची थी। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चरित्रवान राम को उसकी दुर्भावना न डिगा सकी। उसके नाक-कान काटे जाने पर खर-दूषण और उसके सैनिक सरदार त्रिशरा का युद्ध होता है जिसमें वे और उनकी चौदह सहस्र सेना मारी जाती है तथा गोदावरी के पास का वह जनस्थान-भाग निशिचरहीन हो जाता है जिस पर खर-दूषण ने अपना सिक्का जमा लिया था। इसके पश्चात् जैसा कि पाठकों को विदित है, सूर्पणखा रावण के पास पहुँचती है और उसको अपनी दुर्गति का वृतान्त सुनाती है तथा यह भी बताती है कि जनस्थान राम के द्वारा निशिचर-हीन कर दिया गया, तब रावण मारीच से सीता-हरण के षड्यंत्र की सलाह करता है। मारीच राम के बौद्धिक और बाहुबल को जान चुका था। उसने रावण को बहुत रोका पर वह न माना। अन्त में मारीच कपट-मृग बना और रावण ने सीता का हरण किया। इसके पश्चात् सीता की खोज के लिये राम की ुनः पद-यात्रा हुई और अपनी आपत्ति के बहाने रावण के अत्याचारों का ऐसा भंडाफोड़ किया कि कवि की कल्पनानुसार उन्होंने जंगल में पशु, पक्षी, वृक्षों आदि तक को हिला दिया। आखिर अपने समान आपत्तिग्रस्त सुग्रीव से मित्रता हुई, बालि का हनन हुआ, सुग्रीव को किष्किन्धा राज्य की गद्दी सौंपी, और फिर वानर-सेना के योग से लंका-युद्ध हुआ। लंका-युद्ध में राक्षस मारे गये और रामने 'निशिचर-हीन करउँ महि' वाला अपना प्रण पूरा किया। प्रण पूर्ण हो जाने के बाद वे अयोध्या लौटते हैं और फिर अयोध्यापति के नाते प्रजा का पालन-पोषण आदि करते रहने में अपना शेष जीवन व्यतीत करते हैं।

इस तरह उनके राजनैतिक जीवन के दो विभाग हो जाते हैं—एक चौदहवर्षीय वन-वास के समय का, और दूसरा उसके पश्चात् का। दूसरे विभाग के समय की राजनीति का निष्कर्ष जानने के लिए हमें राम के उस आदेश को ही देख लेना पर्याप्त होगा, जो उन्होंने भरत को चित्रकूट से लौटते समय दिया था। उन्होंने कहा—

'मुखिया मुख सों चाहिए, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक।"
'राज धरम सरबस इतनोई, जिमि मन माहँ मनोरथ गोई।"[४२]

मुख और अंगों का, तथा मन और मनोरथ का पारस्परिक सम्बन्ध बताकर, और यह कहकर कि सर्वस्व राजधर्म इतना ही है, कवि ने राम के द्वारा राज-धर्म विषयक विस्तार को इतने लघु रूप में कह डाला है मानो अगस्त मुनि ने सारे समुद्र को एक चुल्लू में भरकर पी डाला है। यह थी राम की राजनीति; और तदनुकूल उनका प्रजा-वात्सल्य, जो परम्परा से उक्ति रूप में 'राम-राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे राजनीति न कहकर 'राजधर्म' कहा है, क्योंकि हमारे सांस्कृतिक तत्त्व-विज्ञान में नीति की अपेक्षा धर्म को ही श्रेष्ठता दी गई है और इसीलिए कवि ने उसे 'सर्वस्व' कहकर बताया है।

इस 'सर्वस्व' के सिद्धान्त पर ही राम की उक्त चौदहवर्षीय वनवास के समय की राजनीति आधारित थी। द्विवरदान वा सीता-हरण आदि घटनाओं को देखकर जो पाठक मानस का पठन-श्रवण कौटुम्बिक-कलह अथवा व्यक्तिगत विरोध के रूप में सीमित रखकर करते हैं वे राम के इस 'राज-धर्म' और 'सर्वस्व' के सिद्धान्त को नहीं समझ पाते। जब मनुष्य किसी वस्तु को सर्वस्व मान लेता है तब उसके हेतु वह सब कुछ का त्याग करने के लिए तत्पर रहता है। राम का यह चौदहवर्षीय काल संकट-ग्रस्त असाधारण

---

४२. मानस, अयोध्या कां० ३१५ वा ३१५।१

काल था। प्रजा वा देश के लिए उन्होंने लौकिक सुख को छोड़ा, नंगे पैर कठिन से कठिन भूमि पर सहस्रों मीलों की पद-यात्रा की, वस्त्रादि की परवाह न कर कुश-किशलय की साथरियों से काम चलाया, राजशाही भोजनों को छोड़ कन्द-मूल-फल खाये, राजमहलों को त्याग पर्ण-कुटियों में रहे, तथा भयंकर से भयंकर शत्रुओं से एकहत्थे अथवा अन्य सैनिकों के सहयोग से जब जैसा अवसर आया तब तैसे लड़े। ग़रज़ यह कि दूसरों की सम्पत्ति या नारियों को चोरी से या बलपूर्वक हड़पनेवाले, धर्म को बलात्कार द्वारा नष्ट करने वाले एवं शान्तिमय जीवन को भंग करनेवाले आतताइयों को सीधे तो सीधे नहीं तो टेढ़े होकर निकाल बाहर करने के लिए कटिबद्ध राम ने अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी थी। मनुष्य का मोह सबसे अधिक अपने शरीर और प्राण पर रहता है। इसीलिए मृत्यु-भय सबसे बड़ा भय कहाता है। मृत्यु-भय का पर्यायवाची काल भी होता है। राम ने राज-धर्म को सर्वस्व समझकर ही समय समय पर शत्रुओं के गर्व को दहलानेवाले, अथवा मुनि आदि भयभीतों को निशंक करनेवाले कई एक ऐसे वाक्य कहे हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कर्त्तव्यरूप धर्म के रक्षार्थ काल से भी नहीं डरते थे। उदाहरणस्वरूप, देखिये वे कहते हैं—

'हम क्षत्री मृगया वन करहीं, तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं।
रिपु बलवन्त देख नहिं डरहीं, एक बार कालहु सन लरहीं।'"[४३]

राम की यह निर्भीकता केवल गीदड़-भभकी नहीं थी। उसमें खलों के प्रति ठोस बल वा पराक्रम, श्रेष्ठ जनों के सम्मुख विनम्रता तथा सर्वसाधारण के प्रति प्रेममय सेवा की वास्तविकता सदा लहराती रहती थी, जो मानस के विभिन्न प्रसंगों में हमें देखने में मिलती है। इन सब गुणों के कारण यदि राम अपने जीवन काल ही में मर्यादा-पुरुषोत्तम अथवा भगवान के अवतार के रूप में पूजे जाने लगे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। राम-कथा में उनके कुछ कार्य ऐसे

---

४३. मानस, अ० कां० १८।९-१०

अवश्य पढ़ते मिलते हैं जिनमें हम मानवों को, जो ईश्वरावतारी शक्ति में विश्वास नहीं करते, ऐतिहासिक सत्यता की कमी खटकने लगती है, जैसे खर-दूषण की चौदह हजार सेना के साथ एक अकेले का लड़ना और सबको मार डालना। फिर भी राम-कथा से इतना तो स्पष्ट है कि राम की राजनीति में वह क्रान्ति थी जिसने प्रचलित आक्रमणकारिणी, सम्पत्ति हारिणी, एवं अन्य प्रकार की अत्याचारकारिणी नीतियों का न केवल विरोध ही किया वरन् उन्हें समूल नष्ट कर दिया। यदि हम यह भी कहें कि उनकी राजनीति में हिंसा को स्थान नहीं था, तो कदाचित् आप ठट्ठा करने लगेंगे, क्योंकि राम-कथा में, आप कहेंगे, राम ने सिवाय दूसरों के वध के और किया ही क्या है ? हम पहले कह आये हैं कि जब कोई अत्याचारी मना करने अथवा चेतावनी पाने पर भी समाज को हानि पहुँचाने वाला अपना अत्याचार करना न छोड़े, और उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए कोई दूसरा चारा न रहे तब उसका वध कर डालना नीति-शास्त्रों में हिंसा नहीं, वरन् अहिंसा की परिभाषा के अन्तर्गत माना जाता है, क्योंकि वह शत्रुरूप हो समाज-सामञ्जस्य का विनाशक होता है।

(E) सांस्कृतिक अथवा धार्मिक—

उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि राम के जीवन में धर्मोद्धार और जन-सेवा के हेतु निर्भीकतापूर्ण सर्वस्व त्याग की भावना आदि से अन्त तक ओत-प्रोत थी। संस्कृति (culture) का इससे अधिक ऊँचा स्तर आपको कदाचित् ही कहीं मिले। यही सब धर्मों का मूल है। उसका प्रत्यक्षीकरण विविध शाखा-प्रशाखाओं में हुआ करता है। परन्तु उनके उल्लेख से पुनरावृत्ति का दोष आ जाने का भय है, तथा पुस्तक के वृहदाकार का भी। एक बात अवश्य विशेष रूप से विचारणीय है और वह यह है। आपको विदित हुआ होगा कि राम के समय में एक ओर तो राजा लोग थे, जो क्षत्रित्व के नाम पर पाशविक बल का प्रयोग कर ब्राह्मणत्व अर्थात् ईश्वरत्व को भुलाकर धर्मच्युत हो रहे थे, और दूसरी ओर ऋषि-मुनि

आदि थे, जो घर-बाहर अथवा वनों में आश्रमवासी बनकर यज्ञ-तपादि में रत रहकर क्षात्रधर्म अर्थात् वीरता से विमुख हो रहे थे, जिसके फल-स्वरूप राक्षसी वृत्ति के लोगों की खूब बन आई थी। इस तरह दोनों ओर से यथार्थ धार्मिक जीवन की ग्लानि हो रही थी। अतएव किसी ऐसे क्रान्तिकारी की आवश्यकता थी जिसमें क्षत्रित्व और ब्राह्मणत्व अर्थात् वीरत्व और ईश्वरत्व दोनों का यथोचित समन्वय हो। इसी कमी की पूर्ति हमें रामजी के जीवनचरित्र में मिलती है, जिन्होंने राज-विद्या और ब्रह्म-विद्या इस द्विविधा शिक्षा को निपुण विश्वामित्र से प्राप्त की और फिर अपने उद्देश्य (mission) में असफल परशुराम से देश का कार्य-भार अपने सिर पर लिया तथा उसे सफलतापूर्वक जीवनपर्यन्त निबाहा।

तुलसी की क्रान्ति-योजना

(द्वितीय खण्ड)

क्रान्ति का नारा और पथ-निर्धारण

(iii) क्रान्ति का नारा—राम-राज्य राम-राज्य का ही नारा क्यों ? राम का क्यों नहीं ?

जब हम यह जानते हैं कि तुलसी की 'राम-रटन' चातक-स्वाति की रटन जैसी जगत-प्रसिद्ध है, तब क्या कारण है, आप पूछेंगे, कि उनकी क्रान्ति का नारा 'राम' ही न कहा जाकर 'राम-राज्य' कहा जा रहा है ? कारण यह है कि यद्यपि राम-नाम के जप-स्मरण-कीर्तन-श्रवण से हमारे वैयक्तिक लौकिक जीवन में शुद्धता आती है, तथापि इस वैयक्तिक शोधन-मात्र से हमारा काम नहीं चलता। सृष्टि, हम सबको ज्ञात है, व्यक्तियों का एक समुदाय है, और उस समस्त समुदाय को व्यवस्थित रखना आवश्यक होता है। व्यवस्था-हीन समुदाय में अराजकता (choas) फैलने के कारण शुद्ध व्यक्ति-विशेष को भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। इस स्वाभाविक नियम के अनुसार सृष्टि में स्थित मानव-समुदाय को भी व्यवस्थित रखना आवश्यक रहता है। हर समुदाय की विशेषकर मानव-समुदाय की इस व्यवस्था का ही नाम राज्य है। चूंकि 'राज्य' के नाम पर सुखप्रद व्यवस्था के स्थान में दुखप्रद व्यवस्थायें मानव समाज में देखी जाती हैं, इसलिये तुलसी ने उसके साथ 'राम' शब्द जोड़ कर यह प्रकट किया है कि यदि सुख-समृद्धि चाहो तो हर राज्य को रामरूपी शोध से शुद्ध रखना चाहिये। सारांश यह है कि सारी सृष्टि में तथा उस सृष्टि के प्रत्येक समूह में व्यवस्थात्मक

स्थिति का रहना परमावश्यक है, और वह स्थिति व्यवस्थित तभी रह सकती है जब उस समूह के प्रधान कर्ता ईश्वरवाची राम-नाम से प्रेरित रहें। राम-स्मरण (अर्थात् 'ईश्वर-चिन्तन') करते रहने से राज्याधिकारियों में प्रभुता के स्थान में विनम्रता और मदपूर्ण स्वामित्व के स्थान में विनीत सेवा-भाव आता रहता है। अतः 'राम' का नारा लगाने में केवल व्यक्तिगत शुद्धता के भाव की प्रधानता रहती है, जब कि 'राम-राज्य' कहने में सामूहिक अथवा सामाजिक जीवन की शुद्धता का भाव निहित रहता है। इसलिये सामाजिक जीवन की दृष्टि से 'राम-राज्य' का ही नारा उपयुक्त है।

त्रिविध राम-राज्य—

तुलसीदास जी ने इस राम-राज्य का वर्णन मानस के उत्तरकांड के पूर्वार्द्ध में किया है। वह गीता-प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित रामचरित मानस की गुटका-आवृति के दोहा १९ (ग) की ७वीं पंक्ति से प्रारम्भ होता है। साधारणतया पाठक यही समझते हैं कि तुलसी ने केवल दशरथ-पुत्र राम की राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया है। परन्तु यह भूल है। ध्यानपूर्वक और सयौक्तिक विधि से पढ़ने पर विदित होता है कि उक्त वर्णन में तुलसीदासजी ने त्रिविध राम-राज्य का उल्लेख किया है। एक तो सर्वव्यापी राम का राज्य है जो समस्त सृष्टि को व्यवस्थित रखता है। दूसरा अवध-नरेश पुरुषोत्तम राम का राज्य है जिसने अपने आदर्श चरित्र वा व्यवस्था द्वारा अवध-राज्य में सुख-साम्राज्य का प्रसार किया। और तीसरा मानस का राम-राज्य है, जो मानवों के मन-वचन-कर्म पर आरूढ़ होकर सर्व समाज को त्रिविध दुखों तथा ईर्षा-द्वेषादि दुर्गुणों से बचाकर सुखी और समृद्धिशाली बनाता है।

सच पूछा जाय तो तुलसी का मूल उद्देश यही था कि हर मनुष्य के मन पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना हो जाय, क्योंकि उसके बिना समाज सुखी नहीं बन सकता और न मानवता आ सकती। यही कारण है कि उन्होंने उक्त तीसरे प्रकार के राम राज्य का वर्णन सर्वप्रथम किया है। शेष दो प्रकार

के राम-राज्य उक्त उद्देश्य-प्राप्ति के अभिप्राय से अनुकरणीय दृष्टान्तों का काम करते हैं।

तुलसी की राम-राज्य-सम्बन्धी इस त्रिविध भावना को अच्छी तरह से समझने के लिए पाठक पूरे वृतान्त को पढ़ें। हम यहां केवल आवश्यक अंशों का उद्धरण कर तथा आवश्यक टिप्पणियाँ देकर उनके विषय में संकेत मात्र कर सकते हैं।

(१) मानस-राज्य (मन पर राम का आधिपत्य)

इसका प्रारम्भ तुलसीदास जी ने निम्न चौपाई से किया है---

"राम राज बैठे त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका।"

और इसका अन्त वे २२ वें दोहे पर इस तरह कर देते हैं—

"दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहिं मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥"

इस प्रारम्भ की चौपाई और विश्राम के उक्त दोहा के बीच में आप को इस बात का उल्लेख मिलता है कि इस प्रकार के राम-राज्य के होने से **सबके सब प्रकार का** लाभ मिलता है और किसी को कोई दुःख नहीं होता, क्योंकि सभी सदाचारी होकर रहते हैं। उदाहरणार्थ—

"दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा।
+ + +
चारिउ वरण धर्मजग माहीं, पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं।
× × ×
राम राज कर सुख संपदा, बरनि न सकइ फनीस सारदा।
× × ×
एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन बच क्रम पति हितकारी।"

---

१. उक्त दोहा का अर्थ यह है---श्रुति आदि में यह सुना जाता है कि रामचन्द्र के राज में लोग मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, और जब सब कोई अपने अपने मन पर विजयी हो जाते हैं तब न तो परस्पर कोई भेद-भाव

टिप्पणी—(१) विषय प्रारम्भ करते समय तुलसी ने लिखा है, 'राम राज बैठे त्रैलोका।' बहुधा आकाश, पृथ्वी और पाताल इन तीन को त्रिलोक कहते हैं। परन्तु 'लोक' का अर्थ यथार्थ में होता है 'कोई भाग विशेष' जिसे अंग्रेजी में sphese या domain कहते हैं। मनुष्य मन, वाणी (वचन) और कर्म का संग्रहरूप होता है। इसलिये ये तीन भाग-विशेष मानव-सृष्टि के 'त्रिलोक' हैं, जिनमें से मन-लोक सर्वप्रधान है, जिस पर हम पिछले पृष्ठों में विविध प्रसंगों के समय ज़ोर देते आ रहे हैं, और जैसा कि तुलसी ने भी यह कहकर स्पष्ट कर दिया है —'तुलसी मन ते जो बने, बनी बनाई राम।' गरज़ यह कि जब राम का आधिपत्य मन-वचन-कर्म इस त्रिलोक पर हो जाता है, अथवा जब रामाधिपत्य के कारण मनुष्य मन को वश में कर लेता है (जीतहिं मनहिं) तब सब समाज सुव्यवस्थित हो जाता है। चूंकि प्रसंग मानव-समाज की व्यवस्था से सम्बन्धित है, जैसा कि आगे की पंक्तियों में 'वयरू न कर काहू सन कोई' तथा 'वरणाश्रम निज निज धरमरत' आदि बातों के आने से स्पष्ट है, इसलिये त्रिलोक का अर्थ मानव-क्षेत्रीय उक्त मन-वचकर्म लेना ही उपयुक्त है, न कि आकाश-पृथ्वी-पाताल। यदि यही सर्वव्यापक अर्थ मान लिया जाय और यह समझा जाय कि तुलसी ने आकाश-पृथ्वी पातालनामी त्रिलोकी व्यापकता के द्वारा ही त्रिविध राम-राज्य के वर्णन का प्रारम्भ किया है तब भी उस व्यापकता में मन-वच-कर्म नामी विशिष्टार्थी त्रिलोक का समावेश भी अपने आप हो जाता है। यदि कवि का यह भाव न होता तो वह २२वें दोहा में 'जीतहिं मनहिं सुनिय अस, रामचन्द्र के राज' न कहता, और 'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहि व्यापा' ही कहता। उक्त त्रितापों से वे ही सन्तप्त

रहता और न कोई अपराधी बनता, जिसे दंड देने की जरूरत पड़े—भेद केवल ऊपरी वेष (स्वरूपादि) में इस प्रकार का दिखता है जैसे नृत्य-समाज में नृतकों के वेष में रहता है, और दंड (डंडा) केवल संन्यासियों-यतियों के हाथ में टेक देने के लिये रह जाता है।

नहीं होते जो मन को जीतकर वश में कर लेते हैं। राजा की अच्छाई तो केवल अच्छे बनने के साधनों में सुगमता लाने का काम कर सकती है, पर अच्छा बनना तो अपने स्वयं के मन-वच-कर्म पर निर्भर रहता है।

टिप्पणी—(२) इस मानस-राज्य के प्रसंग को पढ़ते समय २१ वें दोहा के बाद की प्रथम छः पंक्तियों के आने से पाठक के मन में यह भ्रम हो जाना सम्भव है कि कवि ने मानस-राज्य का वर्णन नहीं किया, जैसा हमने बताया है, बल्कि समस्त सृष्टि के राज्य का वर्णन किया है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये पंक्तियाँ उन पाठकों के लिये दृष्टान्त के रूप में कही गई हैं जिन्हें राम के मानस-राज्य की सर्वश्रेष्ठ उपयुक्तता के विषय में सन्देह हो। पहले तो २१ वें दोहा में कवि ने कहा है कि राम के इस मानस-राज्य में किसी को भी काल, कर्म, स्वभाव या गुणों से होने वाले दुःख नहीं होते। सिद्धान्तवादी कहा करते हैं कि मनुष्य को उक्त चार कारणों में से किसी न किसी एक के द्वारा दुःख की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। परन्तु तुलसी के मतानुसार उक्त राम-राज्य में उक्त कारणों से भी दुःख नहीं हो पाता। यदि इस सिद्धान्त में किसी को सन्देह हो तो उसे कवि यह कहकर समझाता है कि जो राम सप्त-सागर से घिरी हुई भूमि का स्वामी है एवं जिसके रोम-रोम में अनेक भुवन बसे हैं उसकी प्रभुता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह करना उचित नहीं—

"भुवन अनेक रोम प्रतिजासू, यह प्रभुता कछु बहुत न तासू।

इस तरह के उदाहरण देकर समझाने के उपरान्त तुलसी पुनः अपने मूल विषय, मानस-राज्य की महानता पर यह कहते हुए आ पहुँचते हैं—

"सब उदार सब पर उपकारी, विप्रचरन सेवक नरनारी।
एक नारि व्रत रत सब झारी, ते मन वच क्रम पति हितकारी।"

और फिर उपर्युक्त २२ वें दोहा में 'रामचन्द्र के राज' कहकर उक्त मानस-राज्य के प्रसंग को समाप्त कर देते हैं।

(२) सृष्टि-राज्य (सृष्टि पर राम का आधिपत्य)

जब हम सृष्टि के विस्तार पर विचार करते हैं तो हमें अनेक अण्ड-ब्रह्माण्ड तथा उनकी गति-विधियाँ देखने में आती हैं। सूर्य-चन्द्रमा वर्षा-शरद्, पशु-पक्षी, पर्वत-नदी आदि आदि पर हमारा विचार दौड़ता है। फिर इस महान विश्व का नियम-बद्ध संचालन हमारी नजरों में झूल उठता है। तब हम किसी अदृश्य महान संचालक शक्ति की कल्पना करने लगते हैं। इसी संचालक शक्ति का नाम राम है, और उसका यह नियम-बद्ध संचालन ही उसका उस सृष्टि पर राज्य है। इसी राम-राज्य का चित्रण तुलसी ने यह कहकर प्रारम्भ किया है--

"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन, रहहिं एक सँग गज पंचानन।"

इसके बाद कुछ और प्राकृतिक पदार्थों का वर्णन करने के उपरान्त वे इस प्रसंग को २३वें दोहा में यह कह कर ममाप्त कर देते हैं—

"बिधु महिपूर मयूखन्हि रवितप जितनेहि काज।
मागें बारिद देंहि जल, रामचन्द्र के राज॥"

(३) अवध समाज-राज्य (अवध-समाज पर राम का आधिपत्य)

सृष्टि-राज्य के पश्चात् कवि ने दशरथ-नन्दन राम के राज्य की रूपरेखा खींची है, जिसमें हमें राम के स्वकीय यज्ञ, दान, वेद-पथ, धर्म-निरति तथा त्रिगुणातीत लक्षणों का बोध कराया गया है, उनकी पत्नी, माता, भाई, सेवक आदि का एक सम्मिलित आदर्श-कुटुम्ब का परिचय दिया है एवं प्रजा में स्नानादि नित्य क्रियाओं, सत्संगति, भजन-पूजन कथा-पुराणादि की रुचि-विषयक चर्चा की गई है, और फिर २६वें दोहा में यह कहकर अवध-वासियों के सुख-संपदा का उल्लेख किया है —

अवधपुरी बासिन्ह कर, सुख संपदा समाज॥
सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥"

इसके बाद २९वें दोहा तक कवि ने अवध-नगर का वर्णन दिया है और उसके विषय में कहा है—

"रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा, रही अवध सब छाइ।"

फिर ३० वें दोहा तक राम की सानुकूलता, धर्म-परायणता तथा नर-नारियों द्वारा उनके गुण-गान आदि का वर्णन कर सबके अन्त में ३१वें दोहा तक कवि ने अवध-नरेश राम के, अथवा यह कहिये, राम-राज्य के उस प्रताप का उल्लेख किया है, जो रवि के समान उदित होकर 'तिहुँ लोका' (अर्थात् मन-वच-कर्म) को प्रकाशमान कर रहा था, वा जिसके फलस्वरूप सद्-वृत्तियां सुखी हो बढ़ रही थीं और कुवृत्तियाँ दुखी हो नाश हो रही थीं। इन्ही के विषय में कवि ने कहा है, 'बहुतन सुख बहुतन मन शोका' था। अन्त में उन्होंने ३१वें दोहा में यह कहकर इस तृतीय राम-राज्य का प्रसंग समाप्त कर दिया है—

"यह प्रताप रवि जासु उर, जब प्रभु करहिं प्रकाश।
पाछिल बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नाश॥"[२]

अर्थात् जब सर्वव्यापक प्रभु किसी समाज के मनुष्यों के हृदय में अपना विभूतिपूर्ण रवि जैसा प्रतापमय प्रकाश कर देते हैं, तब इस दोहा के पूर्व में पीछे कही हुई धर्म-ज्ञान-विज्ञान-सुख-सन्तोषादि सद्वृत्तियों की वृद्धि ही होती है। और पहले कहीं हुई मत्सर-मान-मोह-मदादि दुष्वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं।

इस दोहा में 'उर' (हृदय) के आने से हमारा किया हुआ 'मन-

---

२. गीताप्रेस की रामचरित मानस में इस दोहा की प्रथम पंक्ति इस तरह है—'यह प्रताप रवि जाके उर, जब करइ प्रकास।' इसके प्रथम चरण में तेरह मात्रायें न होकर केवल बारह हैं। इसलिये 'मञ्जु-संस्करण' का पाठ शुद्ध वा पूर्ण समझ कर उसी को यहाँ लिया है।

वचन-कर्म' वाला वह 'त्रिलोक' का अर्थ प्रमाणित हो जाता है, जिसे कह कर कवि ने प्रसंग का प्रारम्भ किया था।

इस तरह क्रान्ति के नारा की बात यहीं समाप्त करके अब हम तत्सम्बन्धी पथ-निर्धारण की बात पर आते हैं।

(५) क्रान्ति का पथ-निर्धारण

(क) पथ-प्रदर्शक (Guide)—शिव (आत्म-विश्वास) पथ-प्रदर्शक शिव ही क्यों ?—

जब कोई मनुष्य श्रुत-लक्ष्य की ओर किसी पथ पर चलना चाहता है, तब उसे किसी ऐसे पथ नायक की आवश्यकता होती है जो अपनी अनुभूति के आधार पर उसे उस लक्ष्य तक पहुंचा सके। 'राम' जिसका आदर्श था और 'राम-राज्य' जिसका नारा था, उस तुलसी का पथ नायक उस शिव के सिवाय दूसरा और कौन हो सकता था, जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा श्री राम ने स्वयं अपने मुख से यह कहकर की है—"सिव समान प्रिय मोहि न दूजा," तथा

"सिव द्रोही मम भगत कहावा, सो नर सपनहुँ मोहि न पावा !
संकर विमुख भगतिचह मोरी, सो नारकी मूढ़ मति थोरी।
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्पभर, घोर नरक महुँ बास॥"[३]

राम और शिव की पारस्परिक प्रशंसा और आलोचकों पर उसकी प्रतिक्रिया

यह प्रशंसा राम ने उस समय की थी जब सेतु-रचना के बाद उसके समीप ही उन्होंने शिव की मूर्ति की स्थापना कर उसकी पूजा की थी—'लिंग थापि विधिवत करि पूजा।' यह प्रशंसा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। राम की दृष्टि में शिव के प्रति इतना सम्मान बढ़ता है कि वे उन्हें अपना ही 'ईश्वर'

---

३. मानस, लंका, कां० १।६-८; २

कहने लगते हैं। वे कहते हैं कि यह 'रामेश्वर' है, और जो कोई इनके दर्शन करेगा, अर्थात् इन्हें अच्छी तरह समझकर इनके आचरणानुकूल चलेगा वह 'तनु तजि' अर्थात् शारीरिक जीवन '(material life) में लिप्त न रहकर त्याग-मूर्ति (self sacrificing) हो मेरे समान निर्गुणी-निर्विकारी क्षेत्र में पहुँच सकेगा—

"जे रामेश्वर दरसनु करिहहिं, ते तनु तजि ममलोक सिधरिहहिं।"

इधर तो राम शिव को 'रामेश्वर' कहते हैं, और उधर शिव राम को अपना इष्टदेव कहकर उसका नित्य स्मरण करते हैं—

"सोइ मम इष्ट देव रघुबीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।"[४]

तथा

"जपहिं सदा रघुनायक नामा, जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा।"[५]

इधर राम अविनाशी एवं ज्ञान-गुण-राशि भगवान् कहाते ही हैं, और उधर शिव भी उक्त उपाधियों से विभूषित किये जाते हैं—

**"राम नाम कर अमित प्रभावा, संत पुरान उपनिषद गावा।
संतत जपत संभु अविनासी, सिव भगवान ग्यान गुनरासी।"[६]**

इसी तरह "शंभु सहज समरथ भगवाना।"[७] अथवा "तुम माया भगवान शिव, सकल जगत पितु मातु"[८] आदि कथनों को देखिये तो ऐसा प्रतीत होता है कि राम-संज्ञा और शिव-संज्ञा में कोई भेद नहीं है। परन्तु वस्तुतः उनमें भेद है। वह भेद क्या और कितना है, यह हम अपनी बुद्धि के अनुसार

४. मानस बा० कां० ५०।८
५. वही ७४।८
६. वही ४५।२-३
७. वही ६९।३
८. वही ८१

आगे बतावेंगे। अभी हमें इन पारस्परिक प्रशंसात्मक कथनों की मानस के पाठकों वा आलोचकों पर क्या प्रतिक्रिया हुई उसी पर विचार करना है। आलोचकों का कहना है कि भारतवर्ष में दो मत बहुत प्राचीन काल से चले आते हैं—एक वैष्णवमत, और दूसरा शैवमत। दोनों मतों के उपासकों के दो सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, और दोनों की धार्मिक रूढ़ियों वा विचार-धाराओं में इतनी अधिक विषमतायें आ गई कि वे एक दूसरे के कट्टर विरोधी बन गये। राम-कथा में वर्णित बातों के आधार पर यह सहज हो कहा जा सकता है कि राम के समय में भी यह बखेड़ा विद्यमान था। कृष्ण के समय भी उसका उल्लेख मिलता है। तुलसी के काल में भी वह मिटा नहीं था। इसलिए मानस के आलोचकों ने तुलसी की मुक्तकंठ से इस बात की प्रशंसा की है कि उन्होंने वैष्णव और शैव मतों में समता अथवा एकता स्थापित करने में बड़ी कार्य कुशलता दिखाई है। इधर विष्णु का अवतार तथा विष्णु-धनुषधारी राम जब स्वयं अपने हाथ से शिव की प्रतिमा की स्थापना कर न केवल सबके सामने उसकी पूजा करते हैं, बल्कि उसकी ऊंची से ऊंची प्रशंसा कर उसे 'रामेश्वर' कहते हैं और उधर शिव जब स्वयं राम को इष्ट देव कहकर उसका जाप सदा करते हैं, तो फिर दोनों मतावलम्बियों में एकता लाने का और अच्छा दूसरा उपाय क्या हो सकता था? अतः आलोचकों का कथन है कि जिस विरोध को अन्य कोई आचार्य नहीं मिटा सके उसे तुलसी ने इस तरह मिटा दिया कि आज प्रायः हर हिन्दू के घर में राम और शिव दोनों की उपासना और मूर्तियाँ अभेद रूप से देखी जाती हैं।

उक्त आलोचनाओं में तत्त्व और व्यवहार-दृष्टि की शून्यता—

यह सच है; परन्तु राम-द्वारा केवल शिव-लिंग की स्थापना वा पूजा कराने मात्र से एवं राम वा शिव के द्वारा पारस्परिक प्रशंसात्मक वचन-मात्र से यह निष्कर्ष निकालना कि तुलसी ने वैष्णवों वा शैवों में एकता स्थापित कर दी, हमारी समझ में, बुद्धिमान उपासकों के मन को फेरने के

लिये पर्याप्त यौक्तिक विधि नहीं मानी जा सकती, मूर्ख उपासक भले ही उनसे प्रभावित होकर अपनी पूर्वार्जित धारणा को परिवर्तित कर लें। इस बात पर, हमें जहां तक ज्ञात है, किसी आलोचक ने ध्यान नहीं दिया।' तुलसी स्वयं कुछ मूर्ख उपासक तो थे नहीं, जो इतने से ही अपना मन समझा लेते। वे थे बड़े बुद्धिमान, तत्वज्ञ और व्यवहारकुशल। इसलिये उन्होंने बिष्णु और शिव संज्ञाओं में एकता बैठाने के लिये कोई न कोई दूसरा गहरा तात्विक और व्यावहारिक तर्क अवश्य ढूँढ़ा होगा। अतः हमें अब इसी तात्विक और व्यावहारिक दृष्टि से विचार कर बताना है कि राम-भक्त तुलसी ने अपने क्रान्ति-पथ का नायक राम को न चुनकर शिव को ही क्यों चुना!

पथ-नायक शिव की तात्त्विक और व्यावहारिक समीक्षा—

सबसे पहला प्रश्न जो उठता है वह यह है कि क्या हम राम के द्वारा स्तुत्य शिव की उसी शिला-मूर्ति को मानें जिसकी उन्होंने सेतुबन्ध पर स्थापना कर पूजा की थी, अथवा क्या हम काशी में स्थित मूर्ति को या कैलाशवासी का ही जाने वाली मूर्ति ही को स्तुत्य और पूज्य कहें, जिनका उल्लेख भी हमें मानस तथा तुलसी के अन्य ग्रन्थों में मिलता है ? यदि नहीं तो फिर वह शिव कौन है ? क्या वह कोई ऐसा व्यक्ति-विशेष है जो काशी में रहता हो और कैलास पर भी—एक ही व्यक्ति दो अलग अलग स्थानों में एक साथ रहे, यह विश्वसनीय है क्या ? निष्कर्ष यह है कि वह शिव, जिसकी राम ने प्रशंसा और पूजा की है, न तो निरी शिला-मूर्ति है और न कोई व्यक्ति-विशेष ही, जो काशी या कैलाश में निवास करता हो, जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है। मूर्ति चाहे शिला की हो या काठ की, चाहे अचल हो या चल, है तो आखिर किसी भावना की प्रतिमा। सच पूछा जाय तो सारी सृष्टि के सारे व्यक्त पदार्थ, चाहे जड़ हो या चेतन, अमूर्त भावनाओं के मूर्तरूप होते हैं। एक मूर्तियां तो वे होती हैं जिन्हें ईश्वर बनाता है, अर्थात् जो विकास नियमानुसार अपने आप व्यक्त होती रहती

हैं, और दूसरी मूर्तियां वे होती हैं जिनकी रचना मनुष्य अपने मन में उठी हुई भावनाओं के अनुरूप करता रहता है। ईश्वर अपनी कृतियों में चेतना ला सकता है, पर मनुष्य यह करने में असमर्थ रहता है। फिर भी अच्छे कलाकारों की कलम वा शलाकादि में वह बल रहता है कि उनके द्वारा व्यक्त की गई मूर्तियों में सजीवता की प्रतीति होने लगती है। शिव की मूर्ति भी इसी प्रकार से बनाई हुई दिखती है। कुछ मूल भावनायें तो ऐसी हैं जिनके विषय में कलाकार या कवि, परंपरावश कुछ हेर-फेर नहीं कर सकते, और कुछ ऐसी हैं जिन्हें हर कलाकार या कवि उन मूल भावनाओं के आधार पर अपनी अपनी रुचि वा बुद्धि के अनुरूप घटा-बढ़ा लेता है। तुलसी की विनय-पत्रिका के उन प्रारम्भिक भजनों को देखिये जिनमें उन्होंने शिव की स्तुति की है, तो आपको विदित होगा कि उन्होंने उनका गान परंपरा-प्राप्त भावनाओं के आधार पर सैकड़ों अन्य विशेषणों से युक्त करके किया है। परंपरा से इन भावनाओं का चित्रण इस विधि से होता आ रहा है कि उन्हें पढ़ने, सुनने वा देखने से एक ऐसी सजीव मूर्ति आंखों के सामने झूलने लगती है कि मानों सचमुच ही कोई शिव या शंकर नामका व्यक्ति रहा हो या अभी भी उस वर्फ से ढंके हुए कैलास पर्वत पर रहता हो, जहां किसी की पहुँच नहीं हो सकी है। परन्तु हम यह नहीं मानते कि शिव नाम का कोई व्यक्ति हुआ या है; न हम यह ही मानते कि वह कैलास के बर्फ से ढंका हुआ समाधि लगाये बैठा है, या कि वह काशीमें बैठा हुआ मुक्ति बांट रहा है। शिव की वह काशी वा कैलास, हमारी बुद्धि के अनुसार वे नहीं हैं, जिन्हें हम आज काशी वा कैलास कहते हैं। 'काशी' का पर्यायवाची संस्कृत भाषा में 'काशिः' है। 'काशि' का अर्थ सूर्य या रवि होता है।[९] 'काशि': सम्भवतः 'काश' धातु का रूपान्तर है, और 'काश' के मायने हैं, 'प्रकाशमान होना' (to shine to look brillient)[१०]

---

९. शब्दार्थ-पारिजात (चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा कृत)

१०. संस्कृत-अंग्रेजी कोष (व्ही० व्ही० भिड़े कृत)

इसलिये जब यह कहा जाता है कि शिव का वास काशी है तथा काशी मुक्ति-दायिनी है, तब यह समझना चाहिये कि जो मानव योगेन्द्र शिव के अनुकूल चलता है उसका जीवन प्रकाशमान (कीर्तिमान) बन जाता है और वह मुक्ति-फल का अधिकारी हो जाता है। तुलसीदास जी ने सम्भवतः इसी कारण से, अथवा किसी प्राचीन ग्रन्थ के आधार पर विनयपत्रिका के ११वें भजन में शिव के लिये 'शेष सर्वेश आसीन आनन्दवन' कहा है, और उस 'आनन्दवन' का अर्थ टीकाकारों ने 'काशी' बताया है।[११] इस से सिद्ध होता है कि शिव से सम्बन्धित 'काशी' सर्वप्रथम गंगा के किनारे कोई 'आनन्द-वन' नाम का स्थान रहा होगा, जहां कालान्तर से क्रमशः एक नगर बस गया हो और उसी को लोग काशी कहने लगे हों। अथवा यह भी सम्भव है कि वह शिवरूपी भाववाचक संज्ञा को सम्बोधित करने वाली केवल आनन्दायिनी स्थिति-विशेष ही हो।

'वन' प्रत्यक्षतः 'जंगल' को कहते हैं। पर उसी का प्रयोग धर्म-ग्रन्थों में कहीं कहीं पर सृष्टात्मक बाहुल्य वा जटिलता प्रकट करने के हेतु किया गया पाया जाता है। इसलिये 'आनन्दवन' से 'लोकानन्द' (Blissful wordly life) का अभिप्राय भी प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि तुलसीदास जी के मन में 'आनन्दवन' लिखते समय 'कैलास' पर दृष्टि रही हो, न कि 'काशी' पर, जैसा टीकाकार कहते हैं क्योंकि 'कैलास' अभी भी वन के रूप में विद्यमान है और योगियों की दृष्टि से वह आनन्दप्रद स्थान माना भी जाता है।

चूंकि हम शिव को व्यक्तिवाचक संज्ञा न मानकर भाववाचक संज्ञा मानते हैं, इसलिये उससे सम्बन्धित 'काशी' और 'कैलास' संज्ञाओं के मूलार्थ को ही महत्वपूर्ण समझते हैं जिस प्रकार 'काशी' शब्द में मूलतः तेजोमय

---

११. देखो विनयपत्रिका (तुलसी ग्रन्थावली), पृ० ४६६, और वियोगीहरि की हरितोष्णी नाम्नी टीका।

कीर्तिमान जीवन की भावना निहित है, उसी प्रकार 'कैलास' शब्द में आनन्द और मोक्ष की भावनायें भरी हैं। कैसे ?

'कैलास' का संस्कृत रूप है 'कैलासः'। इसका संधिविग्रह हुआ, कैल + आसः। 'कैल' 'केल्' धातुका रूपान्तर है। 'केल्' का अर्थ होता हैं 'क्रीड़ा करना, (to sport to be frolicsome)[१२]; और 'आसः' का अर्थ है 'बैठक' (a seat) 'आसः' 'आस्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'बैठना' (to sit)। इस तरह 'कैलासः' उस स्थिति-विशेष का द्योतक है जिसमें कर्मों की बालकों जैसी क्रीड़ात्मक आनन्दमयी अनुभूति होती हो। परन्तु लौकिक कर्मों के विषय में 'क्रीड़ा' या उसके पर्यायवाची शब्द 'लीला' की उपाधि केवल ईश्वर वा ईश्वरावतारों को दी जाती है, न कि किसी देव को। इसीलिये हम ईश्वरलीला, रामलीला, कृष्णलीला आदि संज्ञाओं का प्रयोग देखते हैं, न कि शिवलीला, ब्रह्मा-लीला या इन्द्र-लीला आदि का। देव-कर्मों में क्रीड़ा का भाव नहीं रहता। उनमें रहता है, प्रयत्न या प्रयास का भाव वह प्रयास जो मुक्ति की ओर ले जानेवाला हो। यही भाव हमें 'कैलास': शब्द में अन्तर्निहित दिखाई देता है। किस तरह ?

'शिव' इन्द्रिय-शमन का प्रतीक है। इसीलिये वह शंभु, शंकर, शंप्रद[१३] आदि नाम से विख्यात है। इन्द्रिय-शमन हो जाने के कारण वह शून्यवत् शेष हो तद्रूप ही जाता है, अर्थात् वह केवल-पद (Supreme oneness) का भोक्ता कहलाता है। 'केवल' से 'कैवल्य' अथवा 'कैवल' भाववाचक संज्ञा बनती है। जो 'कैवल्य' का अधिकारी होता है वही उसका दाता भी हो सकता है। इसीलिये तुलसीदास जी शिव की वन्दना करते समय यह कहते हैं—"यो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।"[१४] इस व्याख्या

---

१२. संस्कृत-अंग्रेजी कोष (भिड़े कृत)

१३. विनयपत्रिका १२

१४. मानस, लं० कां०, प्रारम्भिक वन्दना

के अनुसार 'कैलासःशब्दोच्चार के भेद से 'कैवल्यासः' (कैवलासः) का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है। इसीलिये ये शिव कैलासवासी कहाता है, जिसका अर्थ है, वह स्थिति-विशेष जिसमें केवल पद अर्थात् मुक्तावस्था की अनुभूति होती हो।

कैलासवासी होना अथवा कैवल्य-पद का भोक्ता वा दाता होना कोई नानी-दादी का खेल नहीं है। वह दुर्लभ आदर्श (कैवल्यमपि दुर्लभम्) की एक पाराकाष्ठा है। यह पराकाष्ठा रूप शिव पृथ्वी पर विचर कर पृथ्वी-वासियों की नाम की करके उन्हें यथाविधि कर्म कराता हुआ उक्त आदर्श की ओर बढ़ाता चलता है ताकि वे स्वयं आत्म-बल के आधार पर अहं-शेष रूप हो कैवल्यवास को प्राप्त कर सकें। मानस में तुलसीदास जी ने शिव की जो व्यवहारिक व्याख्या दर्शाई है वह यही है, जैसा कि निम्नदोहा से विदित होता है--

"चिदानन्द सुखधाम सिव, विगत मोह मदकाम।
विचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल लोक अभिराम॥"[१५]

उक्त दोहा में 'विचरहिं महि' का अभिप्राय यह नहीं है कि तुलसी का यह भाववाचक शिव सदा राम-नाम जपता हुआ इधर-उधर निठल्ला फिरने वाला है। उसका अभिप्राय है, **पृथ्वी पर रहकर कर्मयोगी बनने का,** जिससे पृथ्वी-क्षेत्र पर बर्तने वाले मानव उसके पदानुगामी बनें। इस प्रकार का कर्म-योग कब होता है ? वह तब होता है जब, एक ओर, प्राकृतिक कुवृत्तियों को त्याग कर मन में उनके प्रति विराग उत्पन्न हो जाय, और दूसरी ओर, ईश्वरीय गुणों के प्रति अनुराग आ जाय। इन दोनों बातों के आने पर शिव महि पर विचर कर कर्म की साधनायें करते हैं जैसा कि उक्त दोहा के पूर्व की दो पंक्तियों में कवि ने दर्शाया है।' वे ये हैं; उन्हें उक्त दोहा के साथ पढ़िये--

---

१५. वही, बा० कां० ७५

"जब तें सती जाइ तनु त्यागा, तब से सिवमन भयउ विरागा।
जपहिं सदा रघुनायक नामा, जहं तहें सुनहिं राम गुन ग्रामा ॥"
चिदानन्द सुख धाम सिव, विगत मोह मद काम।
विचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल लोक अभिराम ॥"

(नोट—सती 'प्रकृति' की द्योतक है और 'तनु' 'कुवृतियों' का। इसलिये 'सती तन त्याग' का अभिप्राय है, 'प्राकृतिक कुवृतियों का त्याग)[१६]

यह है, शिव नाम्नी व्यवहारिक भावना जिसका अनुगमन कर तुलसी अपने पथ पर चलना चाहता है और दूसरों को भी उसी के अनुरूप चलाना चाहता है। जब मनुष्य इस नामक शिव के समान 'विगत मोह-मद-काम होकर तथा 'हृदय हरि धर' कर महि पर विचरता है, तभी वह अपने अन्तस्थ में 'चिदानन्द सुखधाम' की अनुभूति करता हुआ 'सकल लोक अभिराम' अर्थात् सर्व जगत् का प्यारा बन सकता है।

'सकल लोक अभिराम' बनने के मार्ग में दो प्रबल शत्रु आड़े आते हैं—एक काम (Selfish desire) जो क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर का जन्मदाता रहता है। और दूसरा, कुतर्क अर्थात् आसुरी तर्क जो असत्य पर सत्य का रंग चढ़ाता है। कैवल्याधिकारी शिव अपने विवेकरूपी तीसरे नयन को खोल कर काम को भस्म कर देते हैं और अपनी कृतकार्यता के द्वारा आसुरी तर्क को भी समाप्त कर देते हैं। काम को भस्म करने तथा आसुरी तर्क को समाप्त करने के विषय में मानस में कथायें आई हैं जिनके पढ़ने से यह भ्रम होता है कि शिव व्यक्तिरूप पुरुष थे। यथार्थ में ये दोनों कथायें दो भिन्न भावों की प्रदर्शक हैं। एक भाव है, ईश्वर-चिन्तन में मग्न या ध्यानस्थ होकर, अथवा दूसरे शब्दों में सद्वृत में एकाग्रचित्त (concentration) होकर जो विवेकशीलता उत्पन्न होती है उसके द्वारा काम-

---

१६. सती-तनु-त्याग का विवरणात्मक रहस्य जानने के लिये पाठक लेखक की पुस्तक 'हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक-रूप रेखा' पृष्ठ ९० से ९३ तक पढ़ें।

रूपी शत्रु को जीतना—"तब सिव तीसर नयन उघारा, चितवत काम भयउ जरि छारा।"[१७] इस भाव को समझने में कोई कठिनता नहीं है, क्योंकि हम कई रामाणियों को 'तृतीय नेत्र' का बहुधा यही अर्थ करते सुनते रहते हैं। परन्तु 'आसुरी तर्क' से सम्बन्धित जो दूसरा भाव हम प्रकट करना चाहते हैं उसका उत्तरदायित्व केवल हमारी अल्प बुद्धि पर है। अध्यात्म-प्रधान लोक-पथ से भ्रष्ट हो जाने वाले लोग बहुधा गलत तर्कों के द्वारा न केवल दूसरों को गुमराह करते हैं, वरन् स्वयं अपनी आत्मा की पवित्र अन्तर्ध्वनि को मंद कर लेते हैं। इन कुतर्कों को हम मूर्खतावश जीवन को तारने वाली विधि समझते हैं। 'तर्क' का अपभ्रंश 'तरक' है जिसका प्रयोग अक्सर ग्रामीण लोग करते हैं। तुलसी ने स्वयं मानस आदि अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के कई शब्दों का प्रयोग किया है जैसे 'कर्म' के लिये 'करम'। जो तारने वाला होता है, उसे 'तारक' कहते हैं। इसलिये शिव से सम्बन्धित 'असुरतारक' की जो कथा मानस में आई है वह हमारी समझमें इसी कुतर्क की प्रतीक है। इस कुतर्क (आसुरी तर्क) का अन्त अपने-आप उस समय हो जाता है जब मनुष्य ध्यानस्थ होकर कर्तव्य कर्म को करने में जुटा रहे। इस प्रकार का मनुष्य कृतकार्य कहाता है। कृतकार्य करने वाली शक्ति का यदि नाम रखा जाय तो उसे 'कार्तकेय' कहेंगे। यही 'कार्तकेय' शिव-कथा में 'शंभु-शुक्र-सुत' कहा जाता है। वही 'असुरतारक' को परास्त करने वाला कहा गया है। मानस में दी हुई तत्सम्बन्धी पंक्तियों के पढ़ने से उक्त भाव प्रकट हो उठता है। उनमें से पाठकों के अवलोकनार्थ केवल निम्न पंक्तियाँ देना पर्याप्त है—

"मन थिर कर शंभु सुजाना, लगे करन रघुनायक ध्याना।
तारक असुर भयउ तेहि काला, भुज प्रताप बल तेज बिसाला।
तेहि सब लोक लोकपति जीते, भए देव सुख संपति रीते।

---

१७. मानस बा० कां० ८६।६

× × ×

सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुज निधन तब होइ।
शंभु-शुक्र-संभूत सुत, एहि जीतइ रन सोइ॥"[१८]

पथिक के लिये श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता

तथा

उन पर समीक्षात्मक दृष्टिपात—

परन्तु उत्तम से उत्तम नायक मिल जाने पर भी, चाहे वह व्यक्ति-विशेष हो या भाव-विशेष उस पथिक को क्या लाभ जो स्वयं उस नायक के निर्देशों पर श्रद्धा न करे अथवा श्रद्धा करने पर आत्म-विश्वासी न हो? साधारणतया लोग श्रद्धा और विश्वास के भेद को भूलकर उनका प्रयोग अभेद रूप से करते पाये जाते हैं। वह भेद दृष्टान्त से जल्दी समझ में आ सकता है? 'अ' अपनी अनुभूति के आधार पर क, ख, ग और घ नाम के व्यक्तियों को काश्मीर देश का प्रशंसात्मक वर्णन सुनाता है और उनसे उसे देखने के लिये आग्रह करता है। 'क' 'अ' की बात पर श्रद्धा ही नहीं करता-उसे कोरी गप्प अथवा सन्देहात्मक समझकर उसके लिये कोई प्रयत्न ही नहीं करता। 'ख' श्रद्धा तो करता है पर आलसी आदि होने के कारण वहां जाने का विचार ही मन में नहीं लाता। 'ग' श्रद्धा करके उस ओर चल पड़ता है, परन्तु मार्ग-कठिनाइयों के कारण भयादिवश बीच ही में जाना बन्द कर देता है। परन्तु 'घ' श्रद्धा करता है और 'अ' के बताये अनुसार कठिनाइयों को परवाह न करता हुआ निरन्तर काश्मीर की ओर बढ़ता जाता है, क्योंकि उसे अपनी आत्म-शक्ति में पूर्ण विश्वास है। 'क' में न श्रद्धा है न विश्वास। 'ख' में श्रद्धा है पर विश्वास नहीं। 'ग' में श्रद्धा और विश्वास दोनों हैं, पर पूर्ण विश्वास नहीं। परन्तु 'घ' में श्रद्धा और पूर्ण विश्वास दोनों हैं। इस तरह 'श्रद्धा' योग्य व्यक्तियों के द्वारा कही गई बात को सत्य मानने की तत्परता

---

१८. वही ८१।४-६

को कहते हैं और 'विश्वास' अपने-आप की अचूक-अटूट आत्म-शक्ति पर श्रद्धा रखने को कहते हैं। दूसरे शब्दों में, 'विश्वास' आत्म-विश्वास का द्योतक है।

हर मानव प्रकृति और आत्मा का संयोग रूप है। देव-संज्ञाओं में भी इन दोनों का संयोग माना जाता है यहां तक कि उनका वर्णन पति-पत्नी के रूप में किया जाता है जैसे लक्ष्मी-विष्णु, सरस्वती-ब्रह्मा, पार्वती-शिव आदि। मनुष्य की प्रकृति यदि ऐसी हो कि वह आप्त व्यक्तियों के निर्देशों पर श्रद्धा न करे तो वह अपनी उन्नति नहीं कर सकता, और यदि श्रद्धा होने पर आत्मविश्वासी न हो तब भी वह उन्नति से वंचित रहता है। अतएव इन दोनों से युक्त होना आवश्यक है। तुलसी ने मानस को प्रारम्भ करते समय ही इन दोनों की आवश्यकता की ओर वाचकवृन्द का ध्यान आकर्षित कर दिया है और उनके आदर्शनीय रूप का आरोप करके यह बताया है कि उनके बिना कोई भी मनुष्य आत्म-स्थित ईश्वरत्व को नहीं पा सकता, अर्थात् पूर्वोक्त कैवल्य से वंचित रहता है। यह है उनकी तत्सम्बन्धी वन्दना—

"भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वसरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥"

यहां भवानी (पार्वती) को श्रद्धारूप और शंकर को जिन्हें भव भी कहते हैं, विश्वासरूप कहा है, और बताया है कि इनके बिना सिद्धहस्त लोग भी आन्तर्यामी प्रभु के दर्शन नहीं कर पाते, अर्थात् उन्हें अपनी ईश्वरीय आत्म-शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। भवानी को श्रद्धारूप क्यों कहा? भवानी पूर्वजन्म में सती थीं। आत्मविश्वासी शिव अपनी अनुभूति के आधार पर सती को राम-विषयक महत्व की बात सुनाते हैं। सती को उनके कथन में श्रद्धा नहीं हुई—उसकी सत्यता में सन्देह हुआ। श्रद्धाहीन को अपना सन्देह मिटाने के लिये केवल एक यह उपाय रहता है कि वह स्वयं तद्विषय अनुभव करके देख ले। इसलिये शिव श्रद्धाहीन सती से कहते हैं:—

"जो तुम्हरे मन अस सन्देहू, तौ किन जाइ परीक्षा लेहू।"

सती परीक्षा करती है और अनुभव के द्वारा रघुवीर के प्रभाव को जान जाती है। तत्पश्चात् संयोग-वश अपने पिता राजा दक्ष के यज्ञ में अपना तन त्याग कर पार्वतीनाम से उत्पन्न हो शिववरण के हेतु उग्र तप करती है, जिसके फलस्वरूप उसका शिव के साथ विवाह हो जाता है। अब यह पार्वती वह सती नहीं रही जिसे अनुभूति-सिद्ध शिव के वचनों में श्रद्धा नहीं थी। अब वह श्रद्धावान भवानी बन गई है और शिव से कहती है—

"तब कर अस विमोह अब नाहीं, रामकथा पर रुचि मनमाहीं।
कहहु पुनीत राम गुन गाथा, भुजगराज भूषन सुर नाथा॥"[१९]

यहां शिव को 'भुजगराज-भूषण' और 'सुरनाथ' कहा है। (भुजग अथवा भुजंग) सुनते ही हमारे मन में सर्पनामी जीव की झांकी उठ खड़ी होती है। उसके भावार्थ पर बिलकुल ध्यान नहीं जाता। इसके तीन कारण हैं। एक तो मनुष्य साधारणतः स्वभाव से स्थूल-दृष्टा होता है न कि तत्व दृष्टा। दूसरे टीकाओं आदि में तत्त्वार्थ पर क्वचित ही विचार किया जाता है। तीसरे हम शिव की उन्हीं मूर्तियों से परिचित रहते हैं जिनके गले में सर्प लिपटे दिखाई देते हैं। इस तरह की मूर्तियां बनाये जाने के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि मूर्तिकार सामान्यतः अपने द्वारा निर्मित की गई मूर्ति में स्थूल पदार्थ का ही प्रदर्शन कर सकता है अदृश्य सूक्ष्म तत्त्व का नहीं; और दूसरे कारण का सम्बन्ध है, ध्यानयोग से। ध्यान योग की जो चर्म सीमा है वही शिव की मूर्ति में व्यक्त की जाती है। ऐसे समाधिस्थ योगी के शरीर पर यदि दीमक की मिट्टी का ढेर चढ़ जाय या उसके शरीर में सर्प भी लिपट जावें तो भी उसका ध्यान विचलित नहीं होता। ध्यान-योग की इसी चर्म-सीमा का प्रदर्शन कलाकार शिव की गर्दन आदि में सर्पों को लपेट कर किया करते हैं। इस प्रकार के प्रदर्शन के द्वारा इसमें सन्देह नहीं, वैयक्तिक उत्कृष्टता की शिक्षा निहित रहती है। पर समाज में रहकर

१९. मानस, बा० कां० १०८।७-८

कर्म करने वाले कर्मयोगी के लिये उसमें कुछ व्यवहारिक विशिष्टता की झलक नहीं आती। जीवन वही है जिसमें लोक और परलोक दोनों की सिद्धि हो। इस हेतु ध्यानयोग (अर्थात् ज्ञान-योग) और कर्म-योग दोनों के यथोचित प्रयोग की आवश्यकता होती है, जैसा कि गीताकार ने कहा है कि ज्ञान-योग और कर्म-योग में भेद बताने वाले लोग बालकों के समान मूर्ख होते हैं पंडितों की दृष्टि में उन दोनों में कोई भेद नहीं है—"सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः"।[२०] अतः ज्ञान और कर्म दोनों की दृष्टि से 'भुजग' का भावार्थ ही महत्वपूर्ण है। यह भावार्थ क्या है?

'भुजग' तथा उसके पर्यायवाची शब्द 'सर्प' के धात्वर्थ पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वे दोनों विकासात्मक अथवा प्रगतिवान सृष्टि (Euvolution any or dynamic world) के प्रतीक हैं। कैसे?

पहले 'सर्प' को लीजिये। 'सर्प' 'सृप' धातु का रूपान्तर है। 'सृ' का अर्थ है 'गतिवान होना' (to move) तथा 'सृप' का अर्थ है 'सरकना' (to crawl; to creep)। इसी कारण से 'सर्पः का अर्थ होता है 'घुमावदार गति' (winding motion)[२१] सृष्टि के विकास के विषय में भी वैज्ञानिकों का कहना है कि उसकी गति उन्नत चक्र के रूप में बर्तती रहती है

इसी तरह 'भुजग' को देखिए। 'भुजग' का प्रथक्करण तीन प्रकार से होता है—(१) भु+ज+ग; (२) भु+जग; (३) भुज+ग। 'भु' और 'ज' दोनों उत्पत्तिसूचक वर्ण हैं और 'ग' गति सूचक है।[२२] अतः 'भुजग' का एक अर्थ तो हुआ 'गतिवान उत्पत्ति' या 'गतिवान रचना' (dynamic

---

२०. गीता ५।४

२१. भिड़ेकृत संस्कृत-अंग्रेजी कोष

२२. 'भुजंग का अन्त्याक्षर 'ग' गति का उसी प्रकार अर्थवाची है जिस प्रकार 'ख ग' का 'ग' है। ख=आकाश; ग=गतिवान (इसलिये खग=पक्षी।

creation or world) और दूसरा अर्थ निकलता है 'भुज+ग' से। 'भुज् के दो, मूल अर्थ हैं। एक में 'भोग' (enjoyment or suffering) का भाव है, और दूसरे में 'शासन अथवा नियंत्रण' (to rule or to gouern) का।[२३] इस दृष्टि से भी 'भुजग' से 'प्रगतिवान संसार का भोग वा नियंत्रण' का बोध होता है।

'भुजग' जब प्रगतिवान संसार है तो 'भुजगराज' कौन हुआ? वही पूर्व में कथित 'अशून्य शून्य कल्पितम्' स्थिति, जो अहंरूप 'शेष' कहाती है। यही 'शेष' प्रवृत होकर प्रवर्तित चक्राकार में रचता हुआ स्थूलाकार होता जाता है जिसे सृष्टि कहते हैं, और जब इस स्थूलाकार सृष्टिरूपी वृत्तियों से निवृत होने का मार्ग पकड़ा जाता है तब भी अन्त में वही 'शेष' रह जाता है। मूल भावार्थ वाला यही शेष है, जो बाद में सर्पों का राजा 'शेष' या 'शेषनाग' कहा जाने लगा और शिव के अंग का भूषण बना दिया गया। यथार्थ में शिव-संज्ञा का भूषण है निवृत्ति-सूचक यह अहं शेष वाली अन्तिम स्थिति। यही अहं-शेष सर्व सृष्टि का स्वामी और मानव-जीवन का आभूषण है। इसीलिये शिव को 'शेष सर्वेश आसीन आनन्दवन', एवं 'भुजगराज-भूषन सुरनाथ।' कहकर तुलसी ने मानव-जगत के सन्मुख शिव-संज्ञा का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया है ताकि हर मनुष्य सृष्टि में यथाविधि वर्तता हुआ निवृति मार्ग को न भूले। इस तरह तुलसीदास जी ने काम में निष्कामिनी, अथवा प्रबृति में निवृत्तिगामिनी आत्मगत प्रगति की प्रतिमा शिव-संज्ञा में प्रदर्शित की है। आत्म-विश्वासनी यह शिव संज्ञा तभी फलीभूत हो सकती है जब सतीरूप सन्देहात्मक (डांवाडोल) प्रकृति दग्ध होकर अचल पर्वत-पिता की अडिग पुत्री रूप पार्वती (भवानी) बन उसकी श्रद्धालु भक्तिन हो जावे और उससे (अपनी आत्मा से) 'पुनीत राम' की 'गुनगाथा।' सुनने के लिये उत्सुक हो—'कहहु पुनीत राम गुन गाथा।' यह क्यों? इसलिये कि उन गुणों को जानने से राम के उन कर्मों का ज्ञान होता है जिनके फल-

२३. भिड़ेकृत संस्कृत-अंग्रेजी कोष

स्वरूप वे स्वयं संसार में यश के भोक्ता हैं। तदनुकूल कर्मशील और श्रोता को भी यशस्वी बना सकते हैं—

'बरनहु रघुवर विसद जसु, श्रुति सिद्धान्त निचोरि।'[२४]

प्रकृति और आत्मा का जब इस प्रकार संयोग होता है, तब शिव (व्यक्तिगत आत्मा) और ब्रह्म (सर्वव्याप्त आत्मा) अभिन्न हो जाते हैं। उधर से ब्रह्म कहता है 'अहं ब्रह्म', तो इधर से शिव बोलता है 'शिवोऽहं'। यह है, नर से नारायण बनाने की सामर्थ्य रखने वाला तुलसी का पथनायक शिव, जिसकी दृष्टि में अवतार रूप भगवान की भक्ति का पालन करना आवश्यक होता है, जैसा कि तुलसी ने शिव के मुख से ही कहलवाकर इस छन्द में व्यक्त किया है—

"मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहिं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहिं।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी॥
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥"[२५]

(ख) पथिक का आत्म-वृत्त (vow)**—वृत्त की परिभाषा और उसकी अनेकता—**

सामान्यतः वृत उस नियम-बद्ध साधना को कहते हैं जो किसी लक्ष्य-वेध के हेतु की जाती हो। संसार में दो प्रकारके मनुष्य होते हैं, एक दुष्वृत्ति के, और दूसरे सद्वृत्ति के दुष्वृत्तिवालों का लक्ष्य निम्न स्तर का होता है, इसलिये उनके वृत्तों की अन्तर्भावना भी निम्नस्तरीय होती है, और जो सद्वृत्तिवाले होते है उनके वृत्त सदभावना-युक्त होते हैं।

तुलसी धर्मनिष्ठ थे। वे अपने तथा समाज के जीवन में पवित्रता लाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, आत्मसुधार और समाजोद्धार ही उनका

---

२४. मानस, बा० कां० १०९

२५. मानस, बा० कां० ५०। छन्द

लक्ष्य था। इस प्रकार के श्रेयस्कर लक्ष्य के हेतु जो साधनायें की जाती हैं उन्हें कई नामों से पुकारते हैं, जैसे संकल्प, तप, वृत, प्रतिज्ञा या प्रण आदि।

चूंकि मनुष्य शरीर-मन-आत्मा का संयोग रूप होता है, इसलिये उसके वृत्त भी उक्त तीनों अंगों से सम्बन्धित रहते हैं। तुलसी के वृत्त इन तीनों से सम्बन्धित थे, क्योंकि हर धर्मनिष्ठ लोक-सेवक उक्त तीनों अंगों को स्वस्थ और सुव्यवस्थित रखना परमावश्यक समझता है। इन तीनों को सुव्यवस्थित रखने की धर्म-शास्त्रों में अनेक क्रियायें देखने को मिलती हैं। उन सबका प्रयोग करना ह मनुष्य के लिये असम्भव होता है। इसलिए विद्वान् साधक अपने अपने अनुरूप केवल कुछेक आवश्यक प्रयोगों से सन्तोष कर लेते हैं। इस प्रकार के नितान्त आवश्यक प्रयोगों का उल्लेख कई मान्य आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में पूर्व काल ही में कर दिया है। उदाहरणार्थ महर्षि पातञ्जलि ने अपने योग-दर्शन में पांच नियमों और पांच यमों का उल्लेख किया है। हमारी समझ के अनुसार नियम वे प्रयोग हैं जो हर मनुष्य को करना चाहिये, चाहे वह समाज में रहे या केवल एक अकेला; और यम वे प्रयोग हैं जो समाज में रहने वाले हर एक को करना आवश्यक होता है। वे नियम और यम ये हैं :—

"शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः"[२६] अर्थात् शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान (ईश्वर-चिन्तन —(meditation), ये पांच नियम हैं, और

"अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमः"[२७]

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (त्याग) ये पांच यम हैं।

जिन नियमों और यमों का उल्लेख पातञ्जलि ने किया है, उन्हीं का

---

२६. योगदर्शन २।३२

२७. वही २।३०

वर्णन कुछ हेर-फेर से महर्षि वेदव्यास ने गीता के सोलहवें अध्याय में किया है। वे ये हैं—

(१) अभय, (२) सत्व-संशुद्धि (आत्म-शुद्धि), (३) ज्ञान-योग-व्यवस्थिति, (४) दान, (५) दम, (६) यज्ञ, (७) स्वाध्याय, (८) तप, (९) आर्जव (आन्तरिक सरलता), (१०) अहिंसा, (११) सत्य, (१२) अक्रोध, (१३) त्याग, (१४) शान्ति, (१५) अपैशुन (किसी की चुगली या निन्दा न करना), (१६) दया (१७) अलोलुपता, (१८) मार्दव (विनम्रता), (१९) (अनहंकार या लज्जा (modesty), (२०) अचपलता, (२१) तेज, (२२) क्षमा, (२३) धृति, (२४) शौच, (२५) अद्रोह और (२६) निरभिमानता।[२८]

व्यास जी कहते है कि यही सब दिव्य पुरुष की दिव्य संपदा है (संपदं दैवीमभिजातस्य)[२९] और इस दैवी संपदा से युक्त मनुष्य मोक्ष (दैवी संपद्विमोक्षाय)[३०] का अधिकारी हो जाता है।

तुलसी की साहित्यिक कृतियों तथा उपलब्ध जीवनी से यही प्रकट होता है कि वे उपर्युक्त विविध गुणों के वृत्तधारी थे। सच पूछा जाय तो धर्मनिष्ठ मनुष्य का जीवन वृत्तों का एक समुच्चय रूप ही हुआ करता है। परन्तु बहुधा होता यह है कि वह किसी एक वृत्त को प्रधान रूप से पकड़ लेता है, और उसी एक के भली-भांति अनुपालन से दूसरे अपने-आप सधते जाते हैं, क्योंकि प्रायः सभी एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। उदाहरण-स्वरूप गांधी का मूलवृत्त सत् (सत्य) था और अहिंसा उसका अभिन्न अंग था, यह हम पहले कह आये हैं। इस एक के अनुपालन के हेतु उन्हें अभय, ईश्वर-चिन्तन, यम-नियमादि सभी का पालन करना पड़ता था। वृत्त-समुच्चय की सत्यता उनके इस कथन में निहित है। वे कहते हैं "मेरा जीवन

---

२८. गीता १६।१,२,३
२९. वही १६।३
३०. वही १६।५

वृत्तों पर रचा गया है।"[३१] और वृत्त-एकत्व की सत्यता उन्होंने यह कहकर प्रकट की है कि "वृत्त में अपने को बांधना मानो व्यभिचार से छूटकर एक पत्नी से सम्बन्ध रखना है।"[३२] वही बात यह कहकर दर्शाई है कि "वृत का प्रतिपालन किले के समान होता है, जो भयंकर प्रलोभनों से रक्षा करता है। वह मानवी निर्बलता और 'संदिग्धतारूपी रोगों का निवारण कर देता है।"[३३] परन्तु "वृत का धारण" उनका कहना है, "केवल उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित हो जो सर्वमान्य हों—on points of universal recognized principles"[३४] "वृत का यह अर्थ नहीं होता" वे कहते हैं "कि हम प्रारम्भ से ही उसका पूर्ण रूप से प्रतिपालन करने के योग्य हो जाते हैं, पर यह अर्थ होता है कि उसकी पूर्ति के लिये हम मनसा-वाचा-कर्मणा से निरन्तर निष्कपट चेष्टा करते जावें।"[३५]

तुलसी का मूल-वृत, आत्म-संशुद्धि—

जिस तरह धर्मनिष्ठ गांधी अनेक वृती, अथवा मूलतः एकवृती थे, उसी तरह तुलसी भी थे। तुलसी का मूल एकवृत्त था, 'आत्म-संशुद्धि' जिसका अभिन्न अंग था, 'ईश्वर-चिन्तन', अथवा जैसा कि हम पहले कह आये हैं, 'राम-रटन'। तुलसी का यह 'राम' गांधी के 'सत्' का प्रतीक है। इसलिए यम, नियम, अभय आदि अन्य वृत्तों का उस राम-वृत्त के साथ ही अंग-

---

३१. यर्वदा मन्दिर, पृ० ७५
(Cited in political philosophy of M. Gandhi at page 62)

३२. आत्म-कथा १।३३९

३३. My early life (abridged edition) P. 97

३४. यर्वदा मन्दिर से
Pol. phil. of M. Gandhi के पृष्ठ ६२ पर उद्धरित।

३५. वही

प्रत्यंगों के रूप में अनुपालन किया जाना उनके लिये भी स्वाभाविक ही था। उन सबों के विषय में तुलसी के ग्रन्थों में से अवतरणों को देकर प्रसार बढ़ाना निरर्थक है क्योंकि उन अवतरणों से केवल वही सैद्धान्तिक सत्यता प्रकट होगी जो अन्य धार्मिक वा नैतिक शास्त्रों में पाई जाती है। अतएव हम यहाँ पर व्यावहारिक दृष्टि से तुलसी के मूल राम-चिन्तन-वृत्त की उपयोगिता ही पर कुछ कहेंगे, क्योंकि सामान्यत: लोग उस पर दकियानूसी अथवा अव्यावहारिकता की छाप लगाकर उसकी उपेक्षा करते हुए पाये जाते हैं।

चिन्तन का जीवन में महत्व—

चिन्तन का जीवन में कितना महत्व है, यह जानने के लिये एक दृष्टान्त लीजिये। 'क' और 'ख' नाम के दो पड़ोसी है। दोनों को पहिनने के लिये सफेद-झक्क वस्त्र दिये। उनमें से 'क' को सदा यह चिन्ता रहने लगी कि उसके वस्त्र मैले न होने पावें, और उन पर कभी या कहीं कुछ मैल चढ़ गया हो तो उसे किस तरह से निखार लिया जाय, इसका विचार (चिन्तन) भी उसके मन में बना रहा। इसके विपरीत 'ख' ने इसकी चिन्ता नहीं की। परिणाम यह हुआ कि 'क' सदा ऐसे प्रयत्न (प्रयोग) करता रहा जिनके फलस्वरूप उसके वस्त्रों पर मल नहीं चढ़ पाया, और इसका परिणाम यह निकला कि एक तो वह स्वयं प्रसन्न, सुखी वा नीरोग रहता था तथा दूसरे भी उसके साथ सम्पर्क रखने में वैसे ही प्रसन्न, सुखी वा नीरोग रहते थे। परन्तु 'ख' ने चिन्ता न रखने के कारण अपने उज्ज्वल वस्त्रों को इतने गंदे कर लिये कि उनसे बदबू आने लगी जिसके फलस्वरूप वह स्वयं तथा दूसरे अप्रसन्न दुखी वा रोगी रहने लगे। यह तो हुआ 'क' का वस्त्र-शुद्धि के लिये मूल-चिन्तन। उसके बाद उस पर यह चिन्ता सवार होती है कि वह कौन सा प्रयोग कब और कितना करे जिससे उसका वस्त्र निर्मल रहे अथवा बने। कभी वह उसे केवल पत्थर पर पछाड़ कर स्वच्छ कर लेना चाहता है, कभी केवल सोडा के पानी में डालकर, कभी साबुन लगाकर, और साबुनों में भी कभी सनलाइट सोप के प्रयोग से और कभी टाटा कम्पनी का ५०१ नम्बर

का साबुन से, इत्यादि। ये हुए मूल चिन्तन के पूर्तिकारक प्रयोगविषयक विविध प्रकार के उप-चिन्तन।

चिन्तन और प्रयोग दोनों की आवश्यकता

जिस प्रकार वस्त्र-शुद्धि के चिन्तन और प्रयोग होते हैं और उनका विवरण तद्विषयक साहित्य में मिलता है उसी प्रकार शरीर-शुद्धि-विषयक चिन्तन और प्रयोगों का विवरण शरीर-शास्त्र में, मन-शुद्धि-विषयक मन-शास्त्रों में तथा आत्म-शुद्धि-विषयक धर्म-शास्त्रों में प्राप्त होता है। जीवन में चिन्तनवृत का यही महत्व है। उसके बिना जीवन-शुद्धि अथवा आत्म-शुद्धि के आवश्यक प्रयत्न या प्रयोग कदापि नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में, चिन्तन आत्म-शुद्धि की सर्वप्रथम आवश्यक सीढ़ी है। परन्तु चिन्तनमात्र अथवा विचारमात्र से शुद्धि नहीं आती। उसके लिये प्रयोगों की आवश्यकता रहती ही है। अतः चिन्तन और प्रयोग ये दोनों शुद्धि के आवश्यक अंग होते हैं। धर्मशास्त्रीय एक शब्द 'ईश्वर-प्रणिधान' ऐसा है, जिसमें हमारी समझ के अनुसार, उक्त दोनों भावों का समावेश हो जाता है। किसी भी मान्य शब्द-कोष को उठाकर देखिये तो विदित होगा कि 'प्रणिधान' शब्द के माने (१) प्रयोग (use) और (२) ध्यान या चिन्तन (meditation) होते हैं।[३६] इसलिये ईश्वर-विषयक चिन्तन एवं तदनुकूल प्रयत्न (प्रयोग) करते रहने का ही नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' कहाता है। चूंकि उक्त चिन्तन और प्रयोग विविध प्रकार के होते हैं, इसलिये पातञ्जलि के पूर्वोक्त सूत्र में उसका बहुवचनीय रूप 'ईश्वर प्रणिधानानि' आया है।

तुलसी के वृत्त में चिन्तन और प्रयोग का स्थान

हम पहले कह आये हैं कि ब्रह्म और ईश्वर में यह भेद है कि ब्रह्मसंज्ञा अहं-शून्य अथवा अहं-विलीन निर्गुणावस्था को, और ईश्वर-संज्ञा अहं-युक्त

---

३६. देखो पूर्वोल्लिखित 'शब्दार्थ-पारिजात' और 'संस्कृत-अंग्रेजी कोष'

सगुणावस्था को कहते हैं, हालांकि आपको दोनों का प्रयोग बहुधा अभेद रूप से किया हुआ मिलता है। इस दृष्टि से यदि यह कहा जाय कि तुलसी का राम-वृत पातञ्जलि के इस 'ईश्वर प्रणिधान' का ही पर्यायवाची है, तो गलत न होगा क्योंकि तुलसी का 'राम' भी, जैसा कि अभी कुछ पूर्व में उद्धरित छन्द से प्रकट है, एक ओर तो 'व्यापक ब्रह्म' है और दूसरी ओर, वही 'मायाधनी' होने के कारण अवतरित होकर सगुण राम-रूप हो जाता है, ताकि उसके गुणों का आश्रय लेकर उसके भक्त संसार सागर को पार कर मुक्त रूप हो सकें। इस तरह राम-वृत के अन्तर्गत निर्गुण-सगुण-विषयक चिन्तन और सगुण-विषयक चिन्तन वा प्रयोग दोनों का भाव आता है। जिस प्रकार गांधी का 'सत्' एवं अन्य महर्षियों का यह 'ईश्वर'—अन्तस्थित आत्मा का द्योतक है उसी प्रकार तुलसी के इस 'राम' को समष्टि और व्यष्टि दोनों की अन्तर्यामी आत्मा का द्योतक समझना चाहिये, जैसा कि 'स्वन्त-स्थमीश्वरम्' के द्वारा उन्होंने मानस के प्रारम्भ में ही कह दिया है। अतएव तुलसी के राम-वृत का अभिप्राय यही है कि निर्गुण आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन रहे और साथ ही उसकी सगुणात्मक असीम शक्ति का अनु-शीलन (निरन्तर चिन्तन और अभ्यास) होता रहे, जैसा कि उपरोक्त छन्द की प्रथम दो पंक्तियों में प्रयोग किये गये 'ध्यावहिं' और 'कीरति गावहिं' शब्दों का आशय निकलता है।

स्थूल-सूक्ष्म-क्रम से ईश्वर-चिन्तन के विविध रूप और उनका समीक्षा-त्मक समर्थन—

(१) पूजा का महत्व

चूंकि हम सगुणी और सशरीरी हैं, इसलिये अनभ्यस्त होने के कारण हमारे लिये एकाएक किसी निर्गुणी वा अशरीरी की कल्पना तक करना कठिन है, उस पर ध्यान जमाना तो दूर की बात रही! इसलिये पहले-पहल तो हमें तत्सम्बन्धी योगियों की कही हुई बात पर ही श्रद्धा करना होगा, और फिर आत्म-विश्वास के बल पर अभ्यास करते-करते सगुण-

स्थूल से निर्गुण-सूक्ष्म की ओर बढ़ना होगा, जैसा कि अभी शिव-विषयक विवेचन के समय कुछ पहले बता आये हैं। हर दृश्यमान प्रत्यक्ष पदार्थ स्थूलातिस्थूल स ुण स्वरूप होता है। मनुष्य भी मानव-क्षेत्रीय एक ऐसा ही पदार्थ है। जिस मानव में ईश्वरीय (अथवा शुद्ध आत्मीय) गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसके कृत्यों के द्वारा होता है उसकी ओर अन्य लोगों का खिंचाव अपने-आप होने लगता है, और वह उनकी दृष्टि में प्रेम-पात्र, सम्मानित और पूज्य बन जाता है। जिसमें जितना अधिक यह प्रत्यक्षीकरण होता है उसी के अनुरूप उसको सम्मान प्राप्त होता है इसे सभी जानते हैं। इस स्वाभाविक सत्य को संसार में कोई भी मनुष्य किसी भी वर्ग या जाति का क्यों न हो, अस्वीकार नहीं कर सकता। इस सत्य के अनुसार हिन्दुओं ने इस प्रकार के मानवों को दो विभागों में विभक्त किया—एक देव, जिनमें उक्त गुणों का प्रत्यक्षीकरण हो तो सही, पर कम मात्रा में हो, और दूसरे अवतार, जिनमें वह अधिकतम हो। ईश्वरीय गुणों का प्रत्यक्षीकरण केवल पुरुषवर्ग ही में होता हो, सो बात नहीं है। वह स्त्री वर्ग में भी होता है! इसलिये वे भी देवियों वा जगत्-माताओं के रूप में पूज्य होती हैं। ईश्वरीय गुणों से सम्पन्न इन व्यक्तियों के प्रति इस पूजा-भाव की वृद्धि उनके परलोक-गमन के पश्चात् विशेष रूप से होने लगती है, यह भी एक अनुभव-सिद्ध तथ्य है। उस समय उनका शरीर तो नहीं रहता जिसकी पूजा की जा सके पर उनकी यादगार में उनकी प्रतिमायें पूजी जाने लगती हैं। यथार्थ में न उनका शरीर और न उनकी प्रतिमायें पूजी जाती हैं, वरन् उनके गुणों का स्मरण तथा पूजन होता है अथवा होना चाहिये। यह सब क्यों? इसीलिये न कि हम भी चाहते हैं कि हम भी वैसे बनें?

ईश्वरीय गुणों का प्रत्यक्षीकरण केवल मानवों में ही होता हो, सो बात नहीं है। वे सृष्टि के प्रायः सभी पदार्थों में विविध प्रकार से प्रकट होते दिखाई देते हैं। परन्तु उनमें से कुछ प्रधान पदार्थ ही उनकी महानता और उपयोगिता के कारण पूज्य माने जाते हैं, जैसे आकाश में स्थित सूर्य, चन्द्रमा आदि, तथा पृथ्वी पर स्थित गंगा, हिमाचल आदि, एवं वरुण, पवन, अग्नि

आदि पंच महाभूत। फिर कुछ ऐसी दिव्य शक्तियों का भी अनुमान लगाया जाता है जिनका अधिष्ठान हम अपने अंग-प्रत्यंगों में करते हैं, जैसे मुख में अग्नि, हाथ में इन्द्र आदि का। इसी तरह यज्ञ, मंत्र आदि क्रियाओं में भी देवाधिष्ठान किया जाता है, जैसे अमुक यज्ञ का अमुक देव, तथा अमुक मंत्र का अमुक देव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ गुणों की पराकाष्ठा की कल्पना की जाती है और उसकी प्रतिष्ठा किसी कल्पनात्मक देव-विशेष पर कर ली जाती है, जैसे गणेश बुद्धि-विवेक का शिरोमणि और सरस्वती विद्या-पारांगणा मानी जाती है। सारांश यह है कि हिन्दू-संस्कृति के अनुसार ईश्वरीय अथवा दिव्य गुणों का प्रेमपूर्वक सम्मान परंपरा से चला आता है, और वह सम्मान तत्सम्बन्धी प्रतिमाओं की पूजा द्वारा प्रकट किया जाता है। पूजा यथार्थ में सम्मान-प्रदर्शन का ही नाम है। यदि पूजा के महत्व और देव-संज्ञा के विषय में इससे भी अधिक जानकारी की इच्छा हो तो पाठक मेरी पुस्तक 'हमारा धर्म और उसकी वैज्ञानिक रूपरेखा' के चौथे अध्याय को पढ़ें, जिसमें मैंने कहा है कि "वह (अर्थात् पूजा) हार्दिक उमंग का साकार रूप है, और भावोद्गार की प्रत्यक्ष बही हुई धार। स्वागत और आतिथ्य-सत्कार भी पूजा के रूप हैं।——पूजा के विरुद्ध कड़ी से कड़ी समालोचना करने वाले भी पूजा किये बिना नहीं रह सकते। वे भले ही समझें कि हम पूजा नहीं करते परन्तु उनके नित्य के कार्य पूजा के द्योतक हैं।" मान लो पूजा से घृणा करने वाले 'क' मुसलमान के घर पूजा की विरोधिनी उसकी पत्नी 'ख' नाम की है। 'ख' के भाई 'ग' का तार आया कि वह 'क' और 'ख' से मिलने आ रहा है। समाचार पाते ही 'ख' घर की सफाई करने में जुट गई। भोजन के लिये उत्तम सामग्री मंगाली और बड़े प्रेम वा रुचि के साथ अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप कई प्रकार का उत्तम उत्तम भोजन बनाया। इतने में 'ग' आ पहुंचा। भाई को देखते ही 'ख' के नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आये; फिर उसने भाई के गले में पुष्पमाला पहिनाई तथा गद्गद हो उससे भेंट की। इसी तरह कुछ भिन्न प्रकार से 'क' ने भी 'ग' का स्वागत किया। क्या पूजा के विरोधी 'क' और 'ख' के ये कृत्य पूजा के द्योतक नहीं हैं? पूजा में रहता

ही और क्या हैं प्रेम के प्रति ये ही हाव-भाव न, चाहे उसकी प्रतिमा आंखों के सामने हो या मन में? फिर यह और देखिए। जब हम किसी की मृत्यु के पश्चात् उसकी जयन्ती मनाते समय गाजे-बाजे का प्रदर्शन करते, जुलूस निकालते, उसकी फोटो पर पुष्पहार चढ़ाते, ऊदबत्ती-लोभानादि जलाकर खुशबूदार धुंआ करते अथवा दीप मालिकाओं द्वारा हर्ष प्रकट करते, तब क्या ये पूजा नहीं हैं? इसी तरह पूजा के और भी कई एक ऐसे दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो प्रायः हर देश वा जाति में पाये जाते हैं। जब पूजा के लक्षण सब जगह इस तरह विद्यमान रहते हैं, तब समझ में नहीं आता कि यदि कोई प्रेम-हर्ष-सम्मान-सूचक प्रदर्शनों द्वारा किसी दिव्य गुण सूचक देव की पूजा करे तो उसमें दकियानूसी या अव्यवहारिकता क्यों कही जाती है? वह तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि सबको अपने जीवन में उक्त भावों को किसी न किसी प्रकार से प्रकट करना ही पड़ता है। व्यवहारिकता ता उसमें इतनी ओत-प्रोत है कि उसके अनुपालन के बिना हमारा जीवन ही मानव-जीवन नहीं हो सकता। हम यथार्थ में आदि से अन्त तक नकल के पुतले हैं। चलना-बैठना, बोलना-चालना, खाना-पीना, एक ओर, तथा पढ़ना-लिखना सोचना-विचारना, दूसरी ओर, ये सब आखिर अधिकांशतः हम सम्मानित दूसरों ही से तो ग्रहण करते हैं। इसलिये मानवता को बनाने वाले दिव्य गुणों को ग्रहण करने के लिए यदि हम किसी दिव्य गुणी ऐतिहासिक जीवात्मा की स्मृति में उसकी प्रतिमा की, अथवा किसी आदर्श दिव्य शक्ति के द्योतक किसी कल्पनात्मक देव की प्रतिमा की, या किसी पदार्थ में किसी अधिष्ठित दिव्य-शक्ति की पूजा वा आराधना करें तो क्यों बुरा कहा जाता है? वह बुरा नहीं, पर जीवन का एक अनिवार्य आवश्यक अंग है। सम्भव है, यह कहा जाय कि देव-पूजा की ज़रूरत ही क्या है, जब ईश्वर ही की प्रार्थना से काम चल जाता है; और यदि उसकी जरूरत ही समझी जाय तो देवों की प्रतिमाओं की क्या आवश्यकता, जब कि बिना प्रतिमाओं के वही काम बन सकता है? इस शंका के समाधानार्थ दो बातों पर विचार करना होगा—(१) ईश्वर की प्रार्थना करते रहने

पर भी देव-पूजा आवश्यक है, और (२) देव-पूजा बिना प्रतिमा के असम्भव है।

पहली बात का उत्तर आपको अंशत: मेरी उक्त पुस्तक के निम्न कथन में मिलेगा। उसमें मैंने कहा है कि "धर्म-ग्रन्थों में देव-संज्ञा का स्थित रहना इसलिए भी आवश्यक है कि असीम और अथाह निराकार का स्वरूप-दर्शन एकबारगी होना असम्भव है। ब्रह्म का स्वरूप अगम एवं अकथ है। ईश्वर भी, जिसमें ब्रह्म की स्थिति ठोस होती है, अनन्त है। फिर भी मनुष्य उसी को आदर्श मानकर बढ़ना चाहता है। इस अगम्य आदर्श के किसी एक छोर को वह देखता है, और उसीकी महत्ता पर मुग्ध हो उसी के सदृश होने की चेष्टा करता है। उसी विशाल रूप भगवान् के अंग-उपांग देव हैं। उस पूर्णता के वे विभाग-उपविभाग हैं। उस प्रचण्ड कान्ति के वे किरण उपकिरण हैं। गुण-उदधि परमात्मा का एक कण भी प्राप्त करने के लिये मनुष्य को वर्षों की आवश्यकता होती हैं। इन्हीं गुणों को क्रमश: प्राप्त करने के लिए समानवर्गीय गुण-विभाग की जरूरत पड़ती है। समानवर्गीय गुणों का आरोपण देव-विशेष में इसलिए किया जाता है कि जिससे उस देव-विशेष का भक्त उन समस्त गुणों को या उनमें से किसी एक-दो को ही प्राप्त कर सके। सफलता-प्राप्ति का साधन-विभाग रहस्य है, और यही विभाग-रहस्य है जिसके कारण देव-स्थिति का महत्व है।" उक्त उद्धरण से केवल कल्पनात्मक देवाधिष्ठान के महत्व पर प्रकाश पड़ता है। इसलिये उसी के साथ में पाठकों को पुन: उन दिव्य मानवों का स्मरण कर लेना चाहिये जिनके कृत्यों में ईश्वरीय गुणों का असामान्य प्रत्यक्षीकरण हुआ या होता है, जिसके फलस्वरूप वे अपने जीवनकाल में, विशेषकर अपने जीवनकाल के पश्चात्, देव नाम से इसलिये पूजे जाते हैं कि मानव उनके गुणों का अनुकरण करना सीखें। ऐसे पुरुषों में राम, कृष्ण, हनुमान आदि को समझिये।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चाहे किसी की प्रार्थना या पूजा करो, उसकी मूर्ति आपके सामने आये बिना रहती ही नहीं।

प्रार्थनायें या वन्दनायें गुणसूचक ही होती हैं। इसलिये प्रार्थनीय सगुणी और साकारी ही होता है। निर्गुणों का अनुमान तो सगुणों के कारण किया जाता है। अतएव सगुणी की प्रार्थना करते समय उसकी साकारी प्रतिमा अपने-आप प्रार्थी के अन्तर्नेत्रों के सामने आ झलकती है, भले ही उसकी वह झांकी प्रार्थी की केवल कल्पना पर आधारित हो। अब यदि कोई भावुक उसी कल्पना को किसी पत्थर या पत्र पर अंकित कर ले तो क्या हानि? इस तरह हर प्रार्थी को, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, ईसाई हो या पारसी, प्रार्थना करते समय किसी सगुणो या सगुणी-साकारी प्रतिमा का आश्रय लेना ही पड़ता है, भले ही वह प्रतिमा उसके अन्तस्थ में ही हो।

(ii) जप और उसका महत्व

राम-चिन्तन-वृत्त का 'पूजा' सबसे प्रथम और स्थूल स्वरूप है, जिसकी साधना में शारीरिक स्थूल अवयवों का विशेष भाग रहता है। इसीलिये आप देखते हैं कि तुलसी ने मानस में न केवल मुनि-ऋषियों, गुरु-विप्रों, माता-पिता आदि मानवों की, बल्कि हनुमान, गणेश, शिव, सीता आदि तथा अन्य अधिष्ठित देव-देवियों की यथावकाश वन्दनायें की हैं तथा उन्हें पूज्य कहा है। इससे कम स्थूल रूप है, कीर्तन या गुणानुवाद करना। इसके दो रूप होते हैं—एक, कथन, जो वाणी का व्यापार है, और दूसरा, श्रवण, जो कानों का व्यापार है। चूंकि इस चिन्तनवृत्त के पालन में कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों की प्रधानता रहती है, इसलिये यह प्रथमरूप की अपेक्षा कम स्थूल हुआ। कीर्तन या गुणानुवाद करने में विस्तार अधिक रहता है। वही विस्तार जब संक्षिप्त कर लिया जाता है, अथवा जब उसे साररूप में कहने सुनने लगते हैं तब वह स्तोत्र, सूत्र या मंत्रों के नाम से प्रकट किया जाने लगता है। इससे भी अधिक सूक्ष्म रूप तब होता है, जब केवल नाम का जप किया जाता है, जैसे राम-नाम का जप, जो अपनी महत्वपूर्ण अति सूक्ष्मता के कारण तुलसी के द्वारा 'महामंत्र' कहा गया है—'महामंत्र जोइ जपत

महेसू।"[३७] साधारणतया इसी को तुलसी की राम-रटन कहते हैं क्योंकि मानस में, विशेष कर उसके प्रारम्भ में उन्होंने राम-नाम-जपन की महिमा विविध प्रकार से कहकर दर्शाई है। इस जप-वृत्त की कदाचित् पूजा-वृत्त की अपेक्षा अधिक कटु आलोचना की जाती है। उसे लोग नीरस, निरर्थक और दिखावटी कहते हैं। इसलिये अब थोड़े समय के लिये उसी पर ठहर जाइये, और देखिये कि उसके विरुद्ध की जानेवाली आलोचनायें तथ्यहीन और उपेक्षणीय हैं या सारमयी और आदरणीय।

यद्यपि हम जप-विद्या के न तो आचार्य हैं न साधक न हमें किसी आचार्य या साधक की सत्संगति का लाभ मिला है, और न हमने तत्सम्बन्धी कोई ग्रन्थ ही पढ़ा है, तथापि कुछ थोड़े मनन वा अभ्यास के आधार पर हमें पाठकों के सामने यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि राम-जप से शरीर-मन-आत्मा तीनों स्वस्थ रखे जा सकते हैं, और फलतः साधक को सुख-लाभ भी प्राप्त हो सकता है, जो सारी विद्याओं, आकांक्षाओं वा धर्मों का मूल है। परन्तु यह तभी हो सकता है जब वह विधिवत किया जाय। विधिवत कहने से हमारा यह आशय नहीं कि उसके करने में रूढ़ियां या दिखावटी-पन बर्ता जावे, जैसा कि प्रायः सभी धार्मिक कार्यों में बहुधा देखा जाता है। हमारा तात्पर्य यह भी नहीं है कि तद्विषयक आचार्यों वा साधकों की बताई हुई लीक-रेखाएँ रूढ़िवाद के नाम पर सम्पूर्णतः त्याज्य मान ली जावें। अभिप्राय केवल इतना है कि यदि आप सचमुच ही राम-जप के महत्व को जानने के इच्छुक हैं तो सबसे पहले शान्तचित्त से उस विषय के ज्ञाताओं के निर्देशों को सुनिये और समझिये। इसके पश्चात् यदि तद्विषयक अभ्यास करते समय आपको पूर्व में निर्धारित किसी विधि की उपयोगिता में सन्देह या अरुचि हो तो उसके स्थान में दूसरी उपयुक्त विधि का प्रयोग करने से कोई हानि नहीं। हमें स्वयं अपने किंचित्र विचार वा अभ्यास के द्वारा राम जप की व्यवहारिक उपयोगिता (Practical utility) का जो

---

३७. मानस, बा० कां० १८।३

आभास हुआ है वही हम आपके सामने संक्षिप्त रूप में रख ेना चाहते हैं।

मानस के प्रारम्भ में तुलसी ने राम-नाम-जप का महत्व बताते समय बीच-बीच में राम-नाम-स्मरण (सुमिरन) सम्बन्धी विचार भी प्रकट किये हैं। उनके पढ़ने से पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी ने जप और स्मरण में कोई भेद नहीं रखा। उदाहरणार्थ यह देखिये :—

"चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका, भए नाम जपि जीव बिसोका।"

और

"नाम कामतरु काल कराला, सुमिरत समन सकल जग जाला।"

परन्तु सच बात यह है कि जप और सुमिरन (स्मरण) में भेद है। 'स्मरण' से ज्ञात होता है कि स्मरण-कर्ता स्मरण के पहले बेसुध या अचेत था, अर्थात् भूला हुआ था। किसी भूली हुई वास्तविकता की एक ही बार सुध या याद आ जाना ही 'स्मरण' कहाता है। इसलिये कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ तुलसी ने 'सुमिरन' अथवा उसका कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द कहकर उन लोगों की ओर संकेत करना चाहा है जो राम को भूल गये हैं, और बताया है कि यदि ऐसे बेसुध मनुष्य भी एक बार राम का स्मरण करलें तो वे भी बिना श्रम के भव-सिन्धु या जग-जाल से बच जाते हैं। यह तो प्रभाव है एक बार ही राम-स्मरण का। परन्तु यदि उसका स्मरण बारबार अर्थात् जाप किया जाय तो जापक को कोई शोक नहीं होता और अंत में वह मोक्ष-पद तक को पा सकता है। जिस प्रकार किसी मरणासन्न बेसुध रोगी के लिये डाक्टर का इन्जेक्शन या वैद्य की दवा की एक मात्रा उसे चेत में लाने का काम कर जाती है उसी प्रकार जग-जाल में फंसे हुए बेसुध मनुष्य के लिये राम-नाम का एक बार का ही स्मरण काम का होता है—राम का नाम लेते ही वह होश में आ जाता है। आप कहेंगे, यह असत्य है—कोरी धर्मान्धता भरी कल्पना मात्र है। नहीं, उसमें उतनी ही प्रबल सत्यता है जितनी डाक्टर के जरा से इन्जेक्शन या वैद्य की स्वल्पातिस्वल्प मात्रा में। उदाहरण लीजिये

मान लो एक बालक खूब रो रहा है। माता चुपकाती है, पर वह चुप नहीं होता बल्कि और अधिक झल्ला-झल्ला कर माता को और अपने आप को नोंच-नोंच डाले जा रहा है। इतने में आप आये। आपने कोई ऐसी आवाज कर दी या कोई ऐसी चीज़ उसके सामने दिखादी कि उसका ध्यान (मन) रोने की ओर से उचट कर उस नवीन ध्वनि या पदार्थ की ओर पहुंच गया। बस! बालक का रोना तत्काल बन्द हो गया। अब आपने देखा कि बालक का मन तो उचट गया, परन्तु वह कहीं पुनः वही उत्पात न करने लगे इसलिये आप उस ध्वनि या वस्तु का प्रयोग पूर्ववत् बारबार उसके सामने करते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक रोना भूल जाता है, उसका मन आपके द्वारा प्रस्तुत की हुई ध्वनि या वस्तु में लग जाता है, तथा उनमें मन लग जाने से वह पुनः हंसने-खेलने लगता है। दूसरा उदाहरण: मान लो किसी असह्य पीड़ावश आप आर्तनाद करते हुए कराह रहे हैं। इतने में आपका कोई एक दूर का प्रेमी रिश्तेदार एकाएक आपके सामने आ पहुंचा। उसे देखते ही आप की कराह तुरन्त बन्द हो गई। क्यों? इसीलिये न कि आपका मन दूसरी ओर चला गया? फिर जब तक आपका मन अपने प्रेमी अतिथि की बातचीत में लगा रहा तब तक आपकी कराह बन्द रही—तब तक आप अपने दुःख को भूले रहे और चित्त को शान्ति मिली, अर्थात् उस समय तक आप दुःख से मुक्त रहे। इन दृष्टान्तों से तो, आप कहेंगे, यही विदित होता है कि मन को आपत्ति-ग्रस्त स्थिति से हटाकर आपत्ति-हरण स्थिति में लाने का साधन कोई ऐसा स्थूल-बाह्य पदार्थ हो सकता है जिसका प्रस्तुत होना किसी दूसरे के आधीन रहता है। तब फिर इस शंका के निवारणार्थ तीसरा दृष्टान्त लीजिये। मान लो उक्त कराहनेवाला रोगी एक विद्यार्थी है—वह किसी छात्रालय (होस्टल) के कमरे में पड़ा हुआ व्याकुलता से छटपटा रहा है। एकाएक उसे उसके पिता का स्मरण हो आया—पिता की दुलारभरी मूर्ति झलक उठी। इस विचार के आते ही कराह एक दम बन्द हो गई और उस समय तक स्थिर रही जब तक कि वह सहृदय पिता के विषय में इधर-उधर के विचार दौड़ाता रहा, अर्थात् जब तक

उसका मन उस ओर लगा रहा। आप कहेंगे, पिता की याद अपने-आप आई सही, पर वह इसलिये आई कि उसका अपने पिता के साथ साक्षात सम्पर्क रह चुका था। राम का स्मरण कैसे हो सकता है जब राम को रोगी विद्यार्थी ने कभी देखा ही नहीं, सम्पर्क की बात तो दूर रही। ठीक है पर राम के विषय में, अथवा यही कहिये, ईश्वर के विषय में उसने सुना तो अवश्य है; और वह भी क्या सुना है ? यह कि वह बड़ा दयालु प्रेमी आदि है। सुनी हुई बात की याद और झाँकी दोनों रोगी के मन में उठ आना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं है, क्योंकि हम सबों के मन में सोते समय स्वप्न में या जागते समय ऐसी अनेकों कल्पनायें और झांकियाँ आया करती हैं। यदि आप मानस में कथित, अथवा इसी पुस्तक में कथित राम की व्याख्या को भूले नहीं हैं तो राम एक भाव है, चाहे उस नाम का कोई व्यक्ति-विशेष ही क्यों न रहा हो, और भावों का मनुष्य के मन में उठना स्वाभाविक होता ही है। इस तरह यह निर्विवाद सत्य है कि संकट-ग्रस्त मनुष्य के मन में कभी अपने-आप और कभी देखी या सुनी हुई बातों के आधार पर शोकहारी सूक्ष्म भाव उसी तरह उठा करते हैं, जिस तरह किसी मनुष्य के मन में दुःखकारी मोहात्मक वा पापात्मक भाव उठते हैं। फिर, हिन्दू संस्कृति में पले हुए मनुष्य के मन में परम्परा से सुने हुए राम का भाव उठ आना अर्थात् स्मरण हो आना उतना ही सुलभ, सुखद वा स्वाभाविक है, जितना मुसलिम संस्कृति में पले हुए मुसलमान के लिये अल्ला का नाम होता है। इस तरह मन का एक स्थिति से उचट कर दूसरी स्थिति में पहुँचना ही उस स्थिति का 'स्मरण' हुआ और पहली स्थिति का विस्मरण, लोप या अन्त। स्मरण बुरी स्थिति से अच्छी स्थिति को पहुँचा सकता है और अच्छी स्थिति से बुरी स्थिति को भी। परन्तु मानवता के क्रान्तिकारी उपासक की चेष्टा तो सदा यही रहती है कि मानव मात्र संसार में वर्तता हुआ सांसारिक दुखों से मुक्त होकर सुख का भोक्ता हो। इसी भावना से प्रेरित होकर तुलसी ने राम-नाम जप और राम-नाम-स्मरण के विषय को छेड़ा है, और स्मरण से होनेवाले लाभ के विषय में कहा है कि राम का स्मरण आते ही मनुष्य का जागतिक

दुख तत्काल समाप्त हो जाता है चाहे वह एक क्षण के सहस्त्रांश के लिये हो क्यों न हो। ये हैं उनके तत्सम्बन्धी कथन—

१. नाम लेत भव-सिन्ध सूखाहीं।

२. सेवक सुमिरत नाम सप्रोती बिनुश्रम प्रबल मोह दलजीती।

३. सुमिरत शमन सकल जग जाला।

४. सुमिरत सुलभ सुखद सबकाहू, लोक लाहु पर लोकनिबाहू।

'लोक लाहु परलोक निबाहू' का तात्पर्य यह है कि स्मरण में डाक्टरी इन्जेक्शन या वैद्य की मात्रा के समान वह जादू सरीखा तत्कालीन प्रभाव रहता है कि स प्रथम तो वह लोक-दुख में डूबे हुए को बचा लेता है, और फिर जब वह इस तरह बच जाता है तो उसे अपना परलोक निबाहने, अर्थात् भविष्य सुधारने का अवकाश भी मिल जाता है।

परन्तु मन तो बड़ा चंचल होता है—उसका एक स्थान पर स्थिर रखना वैसा ही कठिन होता है जैसे वायु को रोकना—'तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्'।[३८] इसलिये एक ही बार स्मरण कर लेने से काम नहीं चलता। रोगी को इन्जेक्शन या मात्रा से बचा लेना एक बात है और उसे रोग से मुक्त करना दूसरी बात। मात्रा या इन्जेक्शन के बाद यदि उपचार बंद कर दिया तो रोग फिर ज्यों का त्यों। इसी तरह यदि स्मरण बन्द कर दिया तो वही जग-जाल या भव-सिन्धु फिर जहाँ का तहाँ। गरज यह कि स्मरण पुनः-पुनः होता रहे, तभी यथार्थ लाभ हो सकता है—तभी भीषण लोक-दुख से मुक्त हो सकते हैं। इसी बार-बार स्मरण का फल बताने के हेतु तुलसी ने ये पंक्तियाँ लिखी हैं—

"सुमरि पवनसुत पावन नामू, अपने बस करि राखे रामू।
अवर अजामिल गज गनिकाऊ, भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥"

---

३८. गीता ६।३४

(३) जप की अन्तिम अवस्था ध्यान और उसका महत्व—

बार-बार स्मरण करना ही जप है। परन्तु दोनों में कुछ बारीक भेद भी है। स्मरण करने में विलम्ब की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसमें स्मृत्य के महान गुणों पर विचार दौड़ाना पड़ता है। इस तरह स्मरण-क्रिया में जप-क्रिया की अपेक्षा कुछ विलम्ब और सार्थकता (विचार बांधना) अधिक रहती है। दूसरे शब्दों में, स्मरण की गति मन्द और जप की गति तीव्र होती है। तीव्र गति के कारण जापक की स्मृति की गति धीमी पड़ते-पड़ते रुक जाती है। जब स्मृति की गति रुक जाती है और केवल वाणी गतिवान् रहती है, तब अविचलित अथवा अटूट तैल-धार या जल-धार के समान नाम लगातार मुख से निकलता रहता है। इस प्रकार के जप को धर्म-शास्त्रों में धारा-प्रवाह जप कहते हैं। यह जप-धार स्वाँस लेते समय भी नहीं टूटती। धारा-प्रवाह शब्दोच्चार करते करते जब जीभ में उसके वाह्याग्र शिरे से लेकर आन्तरिक छोर तक शिथिलता आ जाती है, तब हमारे अन्दर ही अन्दर प्राण-वायु की गति के साथ जप की गति भी बहुत कुछ इस प्रकार चलती रहती है जिस प्रकार हम किसी पुस्तक में कथित विषय को बिना वाणी चलाये मन-ही-मन पढ़ते रहते हैं। इस प्रकार के जप को वाणी-जप ने कहकर मानसिक जप कहेंगे। परन्तु इसके पश्चात् जब हमें न प्राणवायु की गति की और न जप की गति की सुध रहती है तब वह जप-क्रिया स्थगित होकर एक-स्थानीय बन जाती है। ऐसी स्थिति को ध्यानावस्था कहते हैं उस अवस्था में हमारी सारी चेतना केवल एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती है, अर्थात् वह केवल उस एक राम-नाम की टेक लेकर ठिठक रहती है। इस तरह पूर्वोक्त क्रमानुसार जब जप-क्रिया ध्यान के रूप में परिणित हो जाती है तब साधक ईश्वर-चिन्तन की अतिसूक्ष्म और अन्तिम श्रेणी पर पहुँचा हुआ कहाता है। तुलसी के जप-सम्बन्धी कथनों में हमें जप की इन्हीं विभिन्न श्रेणियों का परिचय मिलता है। एक ओर यदि साधारण जप करनेवाले मानवों का उल्लेख है, तो दूसरी ओर उच्चतम श्रेणी के कल्पनात्मक अथवा

अधिष्ठात्मक जापक दिव्य पुरुष हैं, जिनकी संज्ञा दवों में की जाती है। मानवों में ही चार प्रकार के जापक होते हैं, जिनके जप करने के उद्देश अलग अलग रहते हैं, यथा (१) आर्त, (२) साधक, (३) ज्ञानी और (४) भोगी। इन सबों को तुलसी ने भक्त कहा है :—

"राम भगत जग चारि प्रकारा, सुकृती चारिऊ अनघ उदारा।"

चारों की जप-क्रिया के विषय में जो कुछ तुलसी ने लिखा है उसे पढ़ते समय पाठक यह न समझें कि ये भक्त केवल अपनी वैयक्तिक भावना को लेकर जप करते हैं, बल्कि यह समझें कि वे अपने और समाज दोनों के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जप के रूप में ईश्वर-चिन्तन करते हैं, क्योंकि वैयक्तिक स्वार्थवाला कभी सुकृती, अनघ और उदार नहीं कहाता। अन्यों के दुख से दुखित आर्त लोगों की भावना रहती है कि सबों का संकट से निवारण हो और सब सुखी रहें—

"जपहिं नाम जन आरति भारी, मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।"

साधक चाहते हैं कि सबों को लौकिक सिद्धि मिले :—

"साधक नाम जपहिं लय लाये, होहिं सिद्ध अणिमादिक पाये।"

ज्ञानी (तत्त्वज्ञानी) का उद्देश रहता है कि सभी ईश्वर-तत्त्व और सृष्टि के सम्बन्ध की गूढ़ता को जाने ताकि भ्रातृत्व का भाव जागृत हो—

"जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ, नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।"

योगी ब्रह्म-सुख की अनुभूति के उद्देश से ध्यानान्वित जप करते हैं—

"नाम जीह जपि जागहिं जोगी, विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा, अकथ अनामय नाम न रूपा।"

इन चारों प्रकार के मानव भक्त, तुलसी का कथन है, शोक-रहित हो जाते हैं—

"चहुँ जुग तीन काल तिहुँ लोका, भए नाम जपि जीव विसोका।"

मानवों के अतिरिक्त तुलसी ने दिव्य गुण रूप गणेश और महेश शिव देवों के जप पर भी इस विचार से प्रकाश डाला है कि जिससे हम लोग ईश्वर-चिन्तन की उक्त ध्यानमय ऊंची से ऊंची स्थिति पर पहुंचने पर भी ईश्वर-चिन्तन को कभी न भुलाएं, क्योंकि उसे भूल जानेवाले को न तो इस संसार में कोई सम्मान मिलता है, और न वह मुक्त हो पाता है। इसी दृष्टि से, प्रतीत होता है, तुलसी ने गणेश और महेश के जप के दृष्टान्त दिये हैं—

"महिमा जासु जान गनराऊ, प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।"
"महामंत्र जोइ जपत महेसू, कासी मुकुति हेतु उपदेसू॥"[३९]

इस तरह तुलसी ने यह स्पष्ट किया है कि राम के स्मरण और जप से वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से लोक-लाभ एवं परलोक-निवाह दोनों हाथ लगते हैं। उन्होंने पौराणिक गाथाओं के आधार पर उसकी महिमा यहां तक गाई है कि उल्टा नाम जपने पर भी वाल्मीकि ब्रह्म समान हो गये थे—

"जान आदि कवि नाम प्रतापू, भयउ सुद्ध करि उल्टा जापू।"

अथवा

"उल्टा नाम जपा जग जाना, वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना।"

कई एकों को इस कथन की सत्यता में सन्देह होता है। वे कहते हैं कि सिड़ी जैसी निरर्थक बात बकते रहने से भला कभी कोई सिद्धि मिल सकती है? परन्तु यह भ्रम निराधार है। जप-विषयक उपरोक्त विवरण में यह बताया जा चुका है कि जप की गति तीव्र होती है। आप स्वयं राम-राम

---

३९. नोट—मानस में कथित जप-सम्बन्धी विवरण का क्रम उच्च से निम्न की ओर चला है। परन्तु हमने तत्सम्बन्धी जो उद्धरण दिये हैं उनका निम्न से उच्च की ओर जाने का रखा है, जैसे पहले आर्त और अन्त में योगी मानवों का और इसी तरह पहले गणेश तथा बाद में महेश का उल्लेख किया है, जब कि मानस में इसके विपरीत है।

बारबार अधिक से अधिक तीव्रतापूर्वक (fastly) जपकर देखिये तो प्रतीत होगा कि आपके मुख से धारा-प्रवाह के कारण राम-राम के स्थान में मरा-मरा निकल रहा है। यदि आपका मन राम पर वैसा ही जमा रहे जैसा राम-नाम के प्रथमोच्चार के समय था, तो ध्वनि किसी भी प्रकार की निकले उससे कोई विपरीत फल नहीं मिल सकता, क्योंकि पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्यों के कर्म-फलों में मन की ही प्रधानता रहती है। प्राथमिक रामोच्चार पर मन के जमे रहने की बात छोड़ दीजिये और यही समझिये कि आपका मन आपकी उक्त 'मरा-मरा' ध्वनि ही में लीन है तो भी आपको शुभ फल ही मिलेगा, अर्थात् आन्तरिक विकार धुल जावेंगे और फलतः आप शुद्ध अथवा ब्रह्मस्वरूप हो जावेंगे। मन को लीन रखने की यही बात तो तुलसी ने साधक के जप के विषय में निम्न पंक्ति में कही है—

साधक नाम जपहि लय लाये, होहिं सिद्ध अणिमादिक पाये"

बाल्मीकि जी एक उच्च कोटि के साधक थे। उन्होंने अपने मन को अपनी जप-ध्वनि से इस तरह बांध कर रखा था कि वह किंचित मात्र भी इधर-उधर न भाग सका। फल यह हुआ कि उनके अन्तस्थ में कोई नये विकारों को उत्पन्न होने का अवकाश नहीं मिला और जो कुछ पुराने विकार थे वे निकल गये जिससे उनका अन्तस्थ शुद्ध हुआ और परम शुद्ध होना ही ब्रह्म कहाता है।

एक शंका और लोगों के मन में उठा करती है। उनका कहना होता है कि पौराणिक कथाओं में जो यह लिखा है कि अजामिल नाम का महापापी और गणिका नाम की महापापिनी राम नाम के स्मरण मात्र से मुक्त हो गये थे, तथा इसी तरह गजेन्द्र ग्राह (मगर के बन्धन से छूट गया था,) वह केवल कपोल-कल्पित धर्मान्धता है। इन्हीं कथाओं के आधार पर तुलसी ने, जैसा अभी पहले कहा था, यह पंक्ति लिखी है—

'अवर अजामिल गज गनिकाऊ, भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ।"

यदि ये गाथायें पूरी दी जाती हैं तो विस्तार बढ़ जावेगा। इसलिये यदि विस्तृत रूप में जानना हो तो पाठक उन्हें अन्यत्र ही पढ़ें। हम यहां सर्वप्रथम इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि पुराणकारो ने उन गाथाओं के द्वारा तात्त्विक सत्यता की प्रधानता बताई है न कि ऐतिहासिक सत्यता की। यह तात्त्विक सत्यता क्या है? वही मन की संलग्नता और उस संलग्नता-वश तदनुरूप मनुष्यमात्र का अच्छा या बुरा बनना, जिसके विषय में अभी कुछ पूर्व कहा जा चुका है। दूसरी बात यह जानना आवश्यक है कि 'मुक्त' का अर्थ यथार्थ में होता है 'किसी भी बन्धन से छूट जाना।' तीसरी बात है, एक बार स्मरण की और पुनः पुनः स्मरण की। एक बार ही स्मरण करने-वाला यदि अपने मन को स्मृत्य पर से न उचटने दे, अर्थात् उसी पर जमाये रखे तो उसे पुनः पुनः स्मरण करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसका एक बार का ही स्मरण ध्यानरूप में परिणत हो जाता है। इसलिये उसका फल वही मिलता है जो पुनः पुनः स्मरण करनेवाले को मिलता है। यह हमने इसलिये बताया कि कहीं कहीं आपको इनकी गाथाओं में यह लिखा मिलता है कि वे एक ही वार के नाम-स्मरण से मुक्त हो गये।

अब देखिये अजामिल की कथा। वह पहले ब्रह्मकर्मों से सांस्कृत था। संयोगवश वह एक कुलटा स्त्री के मोहपाश में फंस गया, इसलिये वह पतित होता गया, अर्थात् उसका मन खराब कर्मों में लग गया। फिर संयोगवश उसने अपने मृत्यु-संकट-निवारणार्थ अपनी सती-साध्वी पूर्व पत्नी से उत्पन्न 'नारायण' नाम के पुत्र को स्नेहवश पुकारना शुरू किया, फलतः वह संकट से मुक्त हुआ और तदनन्तर 'हरिद्वार' क्षेत्र को जा ईश्वर-ध्यान में मग्न हो गया। तात्पर्य यह हुआ कि जब जब जैसा जैसा उसका मन जहाँ जहाँ पर लगता गया तब तब तैसा तैसा वह तदनुरूप फल पाता गया। तत्त्वार्थ की दृष्टि से 'अजामिल' आत्मा का द्योतक है, और 'पूर्व-सती-साध्वी पत्नी', शुद्धबुद्धि की तथा 'कुलटा स्त्री' विषयासक्त बुद्धि की द्योतक है, एवं 'नारायण' नामक पुत्र शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न ईश्वरीय-भावना' का प्रतीक है। भावार्थ यह है कि यदि पवित्र आत्मा (अजा=अजन्मा) का संयोग

(मिल=मेल) कुबुद्धि से हो जाय और फिर भी कहीं वह अपनी पूर्व-पवित्र-बुद्धि से उत्पन्न ईश्वरीय भावना में अपना मन लगा ले तो यह निश्चय है कि वह पुनः 'हरिद्वार' (हरि के द्वार) पर पहुंच कर मुक्त हो जाता है।

अब गणिका (वेश्या) की गाथा सुनिये। वह यह है कि विदर्भ देश में जीवन्ति नाम की एक वेश्या थी। व्यभिचार उसकी वृत्ति थी। परन्तु उसने अपने मन-बहलाव के लिये तथा दोस्त-यारों को प्रसन्न करने के लिये एक तोता पाल रखा था। वह बड़ी सुरीली आवाज़ से राम-राम गाया करता था। एक दिन अर्द्धरात्रि तक जीवन्ति के पास कोई पुरुष नहीं आया। सहसा उसका मन तोता की राम-राम ध्वनि पर गया। उस समय से उसका मन व्यभिचार वृति से हटकर राम-नाम पर लग गया। फलतः उसमें पवित्रता का उदय हुआ और अन्त में वह परम पवित्र बनकर मुक्त हुई। इसमें भी जीव मात्र की जीवनी तथा मन की संलग्नता का रहस्य है। जीव के कर्म वेश्या जैसे पतनोन्मुख होते हैं। परन्तु यदि उसका मन किसी संयोगवश ईश्वर-स्मरण में लग जाय तो वह मुक्त हो सकता है। मुक्ति प्राप्त करना ही जीव की अंतिम स्थिति रही है। 'जीवन्ति' नाम ही उक्त भाव का परिचायक है।

अब देखिये गज और ग्राह की कथा। कहा गया है कि उन्होंने ये रूप श्रापवश पाये थे। गज प्यासा था, इसलिये उसने सरोवर में प्रवेश किया। ग्राह ने उसका पैर पकड़ लिया दोनों अपनी अपनी ओर खींचने लगे। गज थक गया। उसने हरि की पुकार की। हरि ने प्रकट होकर गज को बचाया और ग्राह का सर काट लिया। इसका तत्वार्थ देखिये। गज पशु वर्ग में सबसे विशाल-काय, बलवान और बुद्धिमान होता है। इसलिये गज है, 'बौद्धिक बल' का द्योतक, और ग्राह है, विषयेन्द्रियों का द्योतक।[४०] विषयेन्द्रियां देखने में छोटी

---

४०. नोट—गणेश की मूर्ति इसी कारण से, हमारी समझ में, गजाकार बनाई जाती आ रही है। 'गणेश' देव में बुद्धि-विवेक की भावना का, अधिष्ठान किया गया है।

होने पर भी बड़े से बड़े बुद्धिमान को अपनी ओर खींच ले जाने के लिये काफी बलवान रहती हैं। उनसे बचने का एक उपाय यही होता है कि ईश्वर-चिन्तन किया जाय। दूसरे शब्दों में शरणागति ही, न कि बौद्धिक-बल, मनुष्य को विषयों से बचा सकती है। इस तरह इस कथा में भी ईश्वर में मन को लगा लेने का रहस्य है। इसी विधि के द्वारा विषयेन्द्रियरूप ग्राह का सिर काटा जा सकता है—

(५) लय और उसका तुलसी-मत में स्थान—

इस तरह व्यवहारिक दृष्टान्तों पर आधारित तर्कों का आश्रय लेकर हम तुलसी के राम-चिन्तन-वृत के विविध साधनों की जीवनोपयोगी रूप-रेखा खींच कर यह बता चुके कि उसका सबसे स्थूल स्वरूप है पूजा और सबसे सूक्ष्म स्वरूप है, ध्यान। पूजा से लेकर ध्यान तक के सभी साधनों में चिन्तन, चिन्त्य और चिन्तक इन तीनों की उपस्थिति रहती है, अर्थात् चिन्तक, चिन्तन क्रिया के द्वारा चिन्त्य की अनुभूति करता है। परन्तु ध्यान से परे एक स्थिति और रहती है, जिसे लय कहते हैं। उसमें पहुंचे कि चिन्तन, चिन्त्य और चिन्तक तीनों का अलग अलग अस्तित्व मिटकर एकत्व आ जाता है। किसी तत्त्वज्ञानी ने इस लय तक पहुंचने के क्रम पर ध्यान रखकर यह ठीक ही कहा है—

पूजा कोटि स्तोत्रं, स्तोत्र कोटि जपः।
जप कोटि ध्यानं, ध्यान कोटि लयः॥

ध्यान से परे यह लय तुलसी के लय से भिन्न है। एक है ज्ञानियों, योगियों अथवा निर्गुणियों का लय, जिसमें चिन्तक और चिन्त्य तक की स्थिति का अन्त हो जाता है; और दूसरा है सगुणियों अथवा भक्तों का लय, जिसमें चिन्तक, चिन्त्य का चिन्तन करता ही रहता है, अथवा, दूसरे शब्दों में, भक्त स्वामी का स्मरण वा जप करता रहता है। ज्ञानी लोग जगत के व्यवहार और समाजोपयोगी जीवन को भूलकर व्यक्तिगत सुख की आकांक्षा में रत हो उपरोक्त त्रिविलीनात्मक लय के पक्षकार होते हैं,

जबकि भक्त तुलसी का लक्ष्य व्यवहारिक जगत और समाजोपयोगिता से नहीं हटता। उनके लय में सेवक-स्वामी का भाव कभी नहीं मिटता। स्वामी के चिन्तन अथवा जप में एकचित्त होकर मग्न हो जाना ही उनका लय है, जैसे **"साधक नाम जपहिं लय लाये"** अथवा **"नाम जीह जपि जागहिं योगी"** आदि उनके कथनों से विदित होता है।

राम-जप की सर्वश्रेष्ठता और उससे आत्मा वा मन के अतिरिक्त शरीर को भी लाभ

पूजा, जप, ध्यानादि साधनाओं से, आप कहेंगे, मन तो स्वस्थ और शुद्ध हो सकता है, पर उनके द्वारा शरीर का स्वस्थ और शुद्ध होना कैसे सम्भव है ? इस पर विश्वास तो तभी होगा जब आप स्वयं उनका यथाविधि प्रयोग कर तत्सम्बन्धी अनुभव प्राप्त करके देखें, क्योंकि न तो उस विषय पर पर्याप्त कहा ही जा सकता, और न कहे हुए पर आपको पूरी श्रद्धा ही हो सकेगी। फिर भी कुछ दो-चार आधारभूत बातों पर ध्यान आकर्षित कर देना लाभकारी होगा। सबसे प्रथम तो यह स्मरण कर लीजिये कि मनुष्य शरीर-मन आत्मा का संयुक्त रूप है और इसलिये उन तीनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस दृष्टि से यह स्वयंसिद्ध है कि जिस जिस तरह मन और आत्मा को स्वस्थ और विशुद्ध करने की क्रियायें चलती रहती हैं उस उस तरह शरीर भी स्वस्थ और विशुद्ध होता जाता है। इस के उपरान्त निम्न संकेत भी विचारणीय हैं। उन्हें आधारभूत समझ उनका अनुपालन कर स्वयं कार्य करके देखिये—

(१) पूर्वाएं—हमसे पूछने के पहले अपने हृदय से ही पूछिये कि क्या आपका मन उस ओर सचमुच ही झुक गया है। यदि हां, तो निश्चय जानिये कि अपने शरीर को स्वस्थ और शुद्ध कर लेने की अर्द्ध सफलता आपको प्रारम्भ में ही मिल चुकी। कैसे ? विषय-वासनायें शरीर को बिगाड़ने में बड़ी प्रबल होती हैं, यह स्वयं सिद्ध है—उदाहरणार्थ किसी यौवना के विषय में कामवश विचार दौड़ाते रहने से वीर्य आदि सम्बन्धी रोगों का उत्पन्न

होना अथवा किसी के प्रति क्रोधादि वश अपन शरीर के खून को जलाना या बल को क्षीण करना इत्यादि। ऐसी हालत में मन को उस ओर से हटा कर राम-जप की ओर जितने समय तक आप लगावेंगे उतने समय तक आपकी शारीरिक क्षीणता रुकेगी और अभ्यास-क्रम से शरीर स्वस्थ और शुद्ध होता जावेगा। दूसरे शब्दों में, पूर्वकथित राग-विराग के पारस्परिक प्रभाव पर विचार कर रुचिपूर्वक कार्य प्रारम्भ करने में विलम्ब न कीजिये।

इस मानसिक पूर्वा के अतिरिक्त शारीरिक पूर्वा का होना भी आवश्यक है--उदाहरणार्थ संयमपूर्वक खाना-पीना, सोना-जागना, शौच-स्नानादि का पालन। दूसरे शब्दों में, यम-नियमादि का पालन करते हुए ही राम-चिन्तन के साधनों के द्वारा मानसिक और शारीरिक लाभ होने की सम्भावना होती है, अन्यथा नहीं।

(२) आसन--शरीर की स्वस्थता और शुद्धता एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसलिये दोनों की ओर एक समान ध्यान रखना आवश्यक है। शुद्धता-विषयक कुछ पूर्वाओं पर ऊपर कह चुके। अब स्वस्थता विषयक पूर्वा पर सुनिये। शारीरिक अवयवों का यथाविधि संचालन वा विश्राम होना ही स्वस्थता कहलाती है। शारीरिक अवयव अनेकानेक हैं। उनमें से कुछ प्रधान हैं। उन प्रधान अवयवों में से कोई बाह्य हैं, और कुछ आन्तरिक। स्वास्थ्य-लाभ के लिए इन अवयवों को यथासमय आवश्यक श्रम करने के लिए मिलना चाहिये। पूजा, कीर्तन, जपादि के समय इन अवयवों में से कुछेक को श्रम करना ही पड़ता है। पूजा के समय पुष्पादि लाने वा अर्घ आदि देने में बाह्य अवयवों को कुछ न कुछ श्रम करने का अवकाश मिल जाता है। परन्तु विशिष्ट लाभ उस समय होता है जब शब्दोच्चार, विशेषकर जब राम-जप किया जाता है। राम-जप करने की सर्वप्रथम आवश्यक विधि यह है कि बैठक (आसन) उचित प्रकार का हो। भूमि सम हो और उस पर ऐसा आसन बिछा हो कि उस पर बैठे हुए जापक को जप करते समय भूमि या आसन के गड़ने से बार-बार हिलना-डुलना न पड़े, क्योंकि वह मन की एकाग्रता में बाधक होता है। उक्त आसन पर पालथी मार कर इस तरह सीधा

बैठा जाय कि सिर, ग्रीवा और धड़ सीधे रहें और पीठ की रीढ़ भी सीधी रहे। इसके लिये सिद्धासन या पद्मासन उपयुक्त होता है। परन्तु उनके पूर्णतः पालन करने में यदि कोई असुविधा हो तो उनमें आवश्यकतानुसार सुविधा कर ली जाय। जिसमें कष्ट न हो उसे स्वतिकासन अथवा सुखासन कहते हैं। किसी भी हालत में आसन भूमि पर ही हो और पालथी मार कर ऐसा बैठा जाय कि शरीर सीधा अवश्य रहे। इस प्रकार आसीन होने से बाहरी स्थूल अंगों, भीतरी अंतड़ियों एवं मांस-पेशियों आदि पर अपने आप अच्छा प्रभाव पड़ता ह और जपादि करने में चित्त भी लगता है। पलँग, कुर्सी, गद्दों आदि पर बैठकर भजन करने से न तो शरीरांगों को लाभ होता, न मानसिक एकाग्रता होती और न इसलिये आत्म-सुख ही यथांश में प्राप्त हो पाता है। एक आसन और है, जिसे लगाकर जप किया जा सकता है। उसका नाम है वज्रासन। इसके लगाने की विधि यह है कि दोनों पैरों के घुटने पीछे की ओर मोड़कर पैरों के तलवों पर इस तरह बैठे कि जांघें पिंडलियों पर पड़ें। मुसलमान लोग नमाज पढ़ते समय इसी प्रकार का आसन लगाये हुए दिखाई देते हैं।

इन आसनों के अतिरिक्त कुछ ऐसे आसन भी होते हैं, जो दोनों पैरों से या केवल एक पैर से खड़े रहकर या झुककर, अथवा भूमि पर साष्टांग लेट लगाकर पूजा-भजन आदि के समय काम में लाये जाते हैं। उनके उल्लेख करने से विस्तार बढ़ेगा। सारांश इतना ही है कि पूर्वाचार्यों ने कुछ ऐसे कार्य-क्रम निर्धारित कर दिये हैं कि उनके पालन से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को एक साथ ही लाभ होता जाता है स्वामी शिवानन्द सरस्वती की साहित्यिक यौगिक एवं आध्यात्मिक कृतियों से आज के प्रायः सभी भारतीय तथा अनेक अग्ल-भाषी लोग परिचित हैं। वे डाक्टरी की उच्च परीक्षा (एम० डी०) पास हैं और उन्होंने बहुत समय तक डाक्टरी भी की है। उक्त आसनों से जो शारीरिक लाभ होते हैं वे उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभूति के आधार पर अपनी पुस्तक 'सचित्र हठयोग' में दिये हैं। जिन्हें मेरे पूर्वोक्त कथन में सन्देह हो वे कृपया उन्हीं के कथनों को पढ़कर

देख लें। पद्मासन, सिद्धासन, व्रज्रासन तथा स्वस्तिकासन से प्रायः एक से लाभ होते हैं, जैसे मंदाग्नि मिटकर भूख का लगना, पैरों वा जंघों की स्नायुओं में बल आना, वात-पित्त-कफ का सम मात्रा में योग रहना तथा ब्रह्मचर्य रक्षा से सामान्य बल का बढ़ना।[४१]

(३) समय और स्थान—तुलसी का सिद्धान्त है कि राम-चिन्तन हर समय होता रहना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि चौबीसों घण्टे तिलक लगाये हुए माला हाथ में थामें आसन पर अथवा चलते-फिरते राम-राम कहते रहो और अपने नित्य के कर्म एवं समाजोपयोगी कर्तव्यों को तिलाञ्जलि दे दो। उनका अभिप्राय इतना ही है कि लौकिक कार्यों को करते हुए राम को ध्यान में रखे रहो। फिर भी उपयोगिता की दृष्टि से उसके हेतु सूर्योदय के पहले सबेरे और सूर्यास्त के पश्चात् संध्या का समय, जब कि शौचादि के उपरान्त पेट में भारीपन न रहे, सर्वोत्तम सिद्ध होता है। इसी तरह स्थान वह परमोत्तम होता है जहां शुद्ध वायु तथा पर्याप्त प्रकाश मिले एवं कोई विघ्न न होवे, अर्थात् पवित्र निर्विघ्न एकान्त स्थान हो। ऐसे समय और स्थान पर जब राम-जप किया जाता है तब उससे उपरोक्त त्रिविध लाभ अवश्य होता ह।

(४) रामोच्चार—मनुष्य का शरीर पंचभौतिक होता है। उन पंचभूतों में वायु एक है और अग्नि दूसरा। जब हम बोलते हैं तो समझते हैं कि जीभ बोल रही है या आवाज़ कर रही है। परन्तु यह गलत है। यथार्थतः आवाज़ करना वायु का लक्षण है। जीभ केवल उस वायु को संचालित करने वाला एक प्रकार का स्वाभाविक पंखा है। जब यह पंखा जिस तरह हिलाया-डुलाया जाता है तब उसी तरह हमारी अन्तर्स्थित वायु में वेग उत्पन्न होता है और तदनुरूप वह आवाज़ करती जाती है। यदि यह वायु सुव्यवस्थित विधि से संचालित की जाय तो वह फेंफड़ों के मल को शुद्ध करती हुई तथा स्नायुओं में यथोचित रक्त-प्रवाह में योग देती हुई अन्तर्स्थित अग्नि-तत्व को धौंकनी के समान प्रदीप्त करती है, जिससे क्षुधा बढ़ती तथा पाचन आदि क्रियायें

४१. देखिये 'सचित्र हठयोग', पृ० ३२, ५७, ५८, ५९

व्यवस्थित रूप से चलने लगती हैं। जब ये क्रियाएं अच्छी प्रकार से चलने लगती हैं तब शरीर अपने-आप स्वस्थ होता जाता है, और फलतः चित्त में आनन्द का बास होता जाता है।

जब यही बात है तो तुलसी ने अन्य शब्दोच्चारों को छोड़ राम शब्द ही को क्यों पकड़ रखा है, आप पूछेंगे ? यदि यह उत्तर दिया जाय कि वह ईश्वरवाची है इसलिये पकड़ रखा है, तो क्या दूसरे शब्द ईश्वरवाची नहीं हैं, आप कहेंगे ? ईश्वरवाची शब्द या नाम तो संसार की हर एक भाषा में सहस्त्रों मिलते हैं और फिर सब भाषाओं के इन सब नामों का जोड़ लगाया जाय तो उनकी संख्या करोड़ों से कम न निकलेगी। एक अकेली संस्कृत भाषा में, जो हिन्दी की माता है, ईश्वर के सहस्त्र नाम साधारणतया प्रसिद्ध हैं ही। तब फिर राम ही में क्या विशेषता है जिससे उसी के जाप करने को तुलसी ने महत्व दिया है ? या तो यह हो कि तुलसी ने अपनी किसी निरर्थक कल्पना-वश या पुरानी लकीर की फकीरीवश अपनी टेक को पकड़ा हो, अथवा यही हो कि उन्होंने अन्य सभी नामों में उसे तत्त्व वा व्यवहार दोनों दृष्टियों से सर्व-श्रेष्ठ पाया हो। तुलसी असाधारण तत्त्ववेत्ता, पण्डित और भक्त थे। इसलिये उन्होंने अवश्य ही उसमें कुछ न कुछ विशिष्टता पाई होगी तभी तो उसकी अद्वितीय प्रशंसा की है।

एक विशिष्टता तो वही त्रिभावात्मक है, जिसके विषय में पहले पर्याप्त कहा जा चुका है, अर्थात् उस एक ही शब्द के द्वारा एक ही साथ व्यापक निर्गुण, व्यापक सगुण और विभूति पूर्ण (अवतारी) मानव विशेष का भाव आ जाता है। इसलिये जब ईश्वरवाची शब्द ही के द्वारा अन्तर्स्थित वायु को संचारित करने का प्रश्न है, तो यही क्यों न किया जाय कि ऐसे ही नाम का जप हो जिसका उच्चारण करते समय न केवल व्यापक निर्गुण-सगुण का, बल्कि मानवता के रूप में स्फुरित सगुण ईश्वर का भाव भी प्रवाहित होता चला जावे, और इस प्रवाह के कारण कथन-वश वाणी, स्मरण-वश, मन (चित्त) तथा कर्म-वश समस्त शरीर पवित्र होता जावे, जिससे मन-वच-कर्म के द्वारा आत्म-सुख की अनभूति हो, यह त्रिप्रकारात्मक

विशिष्टता उसी संस्कृति में पाई जाती है जिसमें अवतार-सिद्धान्त को मान्यता दी गई है क्योंकि अवतार ही में ईश्वर-सम श्रद्धा रहती है। परन्तु हर अवतारी पुरुष का नाम ऐसा नहीं होता जो व्यापक निर्गुण तथा व्यापक सगुण का भी अर्थवाची हो। कुछ ही अवतारी नाम ऐसे मिलते हैं, 'कृष्ण' उनमें से एक है। कृष्ण का अर्थ 'श्याम' है, और श्याम या घनश्याम व्यापक ईश्वर का भी द्योतक है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि कृष्ण जैसे, विशिष्ट और व्यापक अर्थवाची नामों से मन में तथा उनके कर्मों के अनुकरण से शरीर में पवित्रता लाई जाकर आत्मसुख की अनुभूति हो सकती है और इसमें भी सन्देह नहीं कि उन नामों के जपने से वाणी पवित्र होकर शरीर को लाभ पहुंचा सकती हैं, परन्तु उनमें पूर्ण शरीर-लाभ तथा पूर्ण आत्म-सुख लाने की वह शक्ति हमें नहीं दिखाई देती जो राम-जप में है। राम-जपने में शरीर-लाभ और आत्म-सुख, इसी पूर्णता की अनुभूति के कारण तुलसी ने, हमारे विचारानुसार, राम-नाम को सर्वोपरि माना है। यह कैसे —वह नीचे बताया जाता है।

(५) ध्वन्यात्मक हुँ—पहले हम सचेतन शून्य 'अहं' और अहंकार के विषय में कह चुके हैं। पाठक पुनः उन पर विचार करें! सृष्टि का आदि प्रकरण अहं तत्व से प्रारम्भ होता है; फिर इस अहं का अहंकार रूप होता है जो साकार सृष्टि कहाती है; तथा प्रलयकाल में वही अहंकाररूप सृष्टि फिर से पूर्ववत् अहंतत्त्व बन जाती है। जब साकारता और सगुणता की दृष्टि से सृष्टि का विचार किया जाता है तब इस अहं तत्त्व पर ध्यान जाता है। परन्तु यदि उसी सृष्टि का विचार वाणी, वचन, वाक्यजाल अथवा भाषा की दृष्टि से किया जाय तो अहं और अहंकार का प्रत्यक्षीकरण हुँ और हुँकार शब्द के रूप में होता है। दूसरे शब्दों में, वाक्विस्तार सृष्टि का वैसा ही एक रूपक है जैसा साकार या सगुण होता है। वाक् अर्थात् स्वर का प्रारम्भ शरीराधार नाभि-केन्द्र से 'हुँ' ध्वनिमात्र के रूप में अज्ञात विधि से होता है। फिर वही प्रसार वा विस्तार के समय हुँकार का प्रतीक बन जाता है। यही हुँकार सूक्ष्म होते होते अन्ततः उसी नाभिकेन्द्र में उसी हुँ के रूप में अज्ञात

विधि से जाकर लय हो जाता है। इसे समझ जाने के लिये किसी अच्छे तान-लगाने वाले गवैया, अथवा अपने किसी भले बुरे गान में मस्त किसी भी गाने-वाले के पास पहुंच उसके गाने को सुनिये। गान प्रारम्भ करते समय वह आ. . .आ, या हँ . . . .हँ, या हुँ . . . .हुँ कहता है, और जब वह गान के विस्तार को सूक्ष्म करते करते उसी में लीन हो जाता है तो वाणी-मुंह बंद हो केवल एक हुँ . . . .हुँ जैसी गुंजार या ध्वनि होती है। स्वरात्मक अथवा वाक्-जालात्मक सृष्टि में विचरनेवाले मानव के लिये इसी हुँ ध्वनि का प्राप्त करना उसके आनन्द की पराकाष्ठा है।

जिस नाम के जप में जापक को उसके धारा प्रवाह विस्तार के समय वैसी ही प्रसन्नता हो जैसी गाने के विस्तार के समय गवैया को होती है, और जब वह अपने जप-गान में इतना मग्न हो जावे कि उसके मुंह, होंठ, जीभ आदि शारीरिक अवयव अपने-आप शिथिल से होकर क्रमशः गतिहीन होते जावें, तथा अन्त में वही हुँ उसके नाभि-केन्द्र में जाकर लय हो जावे, तब समझना चाहिये कि वह जापक अपने इष्ट नाम के जप के द्वारा आत्मानन्द की पराकाष्ठा पर पहुंच गया है। आनन्द की पराकाष्ठा पर पहुंचने वाली यह हुँ ध्वनि सरल-स्वाभाविक विधि से जिस नाम के लेने से निकल सके वही नाम श्रेष्ठ समझा जाने योग्य है। परन्तु जापक और गायक की हुँ ध्वनि में भेद हो सकता है। गायक का प्रधान लक्ष्य केवल ध्वनि पर रहता है, गान उसका चाहे जिस भावार्थ का हो। परन्तु जापक का प्रधान लक्ष्य जप का भावार्थ ही होता है, ध्वनि उसकी चाहे जैसी निकले। वह अपने जप का विषय इस प्रकार का ढूंढ़ता है कि वह ईश्वरवाची अवश्य हो और उसमें भी ईश्वर सम्बन्धी अधिक से अधिक भाव आ सकें।

तुलसी के राम में ईश्वर-सम्बन्धी अधिक से अधिक ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भाव हैं, यह हम बता चुके हैं। अब देखना यह है कि क्या उसके वर्णों में उच्चारण-विषयक वह गुण है जो स्वाभाविक-सरल विधि से उपरोक्त ध्वन्यात्मक आनन्दावस्था तक जापक को ले जा सके। राम-नाम देखने में तो केवल दो वर्णों का बना है, परन्तु यथार्थ में उसमें तीन वर्ण हैं—र+आ

+ म। यह त्रिवर्णात्मक 'र+आ+म' उस त्रिभावात्मक सृष्टि का रूप है जिसमें आदि-मध्य-अन्त स्थितियां रहती हैं। आदि में 'र' की ध्वनि उठती है; फिर वही दीर्घ 'र+आ'=रा.... रा के रूप में बढ़ती है, और फिर अन्त्याक्षर 'म' के योग होने पर 'रा....म....' कहने से उच्चार का अन्त हो जाता है। अतएव राम-जप क्या है, मानो हर नाम सृष्टि की उक्त त्रिविध गतियों का स्मरण करानेवाला मंत्र है।

राम-नाम का जप कई प्रकार से किया जा सकता है। एक विधि है, आलाप सहित गान के रूप में, जैसा कि ऊपर 'रा....म....' संकेत के द्वारा बताया है। दूसरी विधि है, राम-राम शनैः शनैः कहना। तीसरी विधि है, तीव्र वेग से राम-राम इस तरह कहते जाना जिससे जप इतना धारा-प्रवाहित हो जाय कि स्वास लेते समय भी उसका तारतम्य न टूट सके। यह थोड़े ही काल के अभ्यास से होने लगता है। इसका अभ्यास जब और अधिक बढ़ने लगता है तब ऐसा समय आता है कि मुंह-होंठ बिना खोले केवल जीभ भीतर ही भीतर चलती रहती है। तत्पश्चात् जीभ भी रुक जाती है और राम शब्द के स्थान में केवल हुँ-हुँ जैसी ध्वनि आने लगती है। चौथी विधि है, बन्दर की हूक जैसी, जिसे उस कारण से हनुमान की विधि कहा जाय तो कदाचित् गलत न हो। इस प्रयोग के समय राम-नाम को नाभि से मुख की ओर झटका सा देकर लाना पड़ता है। इस प्रयोग से, हमें कुछ ऐसी प्रतीति हुई कि शरीर की निम्न वायु ऊपर को खींची जा सकती है, जिससे शरीर हलका होकर ऊपर को उठ सकता है और विशेष अभ्यास-वश उड़ भी सकता है जैसा कि हनुमानादि कर सकते थे। परन्तु इसे मुझ जैसे एक अनाड़ी लेखक का अनुमान ही समझिये। वह कहां तक सत्य है, इसे तो योग-सिद्ध महात्मा ही कह सकेंगे। जो भी हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि जप की इस क्रिया में भी अन्त में हुँ ध्वनि निकलने लगती है क्योंकि राम के अन्त्यवर्ण 'म' में यही रहस्य निहित है, राम चाहे जिस विधि से क्यों न कहा जाय।[४२]

---

४२. नोट—जो कुछ इस सम्बन्ध में हम लिख सके हैं वह, हम जानते

किसी भी ऐसे शब्द को लीजिये जिसका अन्त्यवर्ण 'म' हो और उसे बोलिये, जैसे हम, तुम, दम, दाम आदि। ऐसे शब्द की समाप्ति के समय जब आप अन्त्यवर्ण 'म' को बोलते हैं, तब आपके ओष्ठ बन्द हो जातें हैं, और यदि मुंह तुरन्त न खोला जाय तो उस 'म' के कहने पर शरीर के भीतर एक 'हुँ. . . .' जैसी आवाज होती रहती है, चाहे वह क्षणांश के लिये ही क्यों न हो। यही 'म' जब शब्द के अन्त में नहीं होता और बोला जाता है। तब उसका उचारण करने के लिये ओष्ठों का खोलना आवश्यक होता है। इस तरह यह विदित हो जाता है कि शब्द के अन्त्यवर्ण 'म' के उच्चारण होने के बाद ही शरीर के अन्दर अपने-आप 'हुँ. . . . .' ध्वनि का निकलना स्वाभाविक है। यदि यथोचित् अभ्यास किया जाय तो यह ध्वनि बहुत देर तक कायम रखी जा सकती है। चूंकि इस अन्त्याक्षर 'म' की ध्वनि आनन्द में मग्न करनेवाली होती है, और चूंकि आनन्द प्राप्त करना ही सभी का इष्ट रहता है, इसलिये तुलसी ने राम-नाम के 'म' को मुकुटमणि कहा है और 'रा' को क्षत्र—'एक छत्र इक मुकुटमनि, सब बरनन पर जोउ।'

शान्तिदायक अथवा आनन्दप्रद होने के नाते 'म' को मुकुटमणि कहा सो तो ठीक है, पर 'रा' को छत्र क्यों कहा? छत्र का अर्थ चाहे 'छाता' लो, या 'छात्र' (क्षत्रिय धर्म) दोनों में रक्षण करने का भाव निहित रहता है। सृष्टि क्या है मानो नाम और रूप का जाल। नाम और रूप यही दो शत्रु हैं जो मन पर आक्रमण कर मानवता को नष्ट-भ्रष्ट करने में लगे रहते हैं। रूप का प्रवेश-द्वार है, नेत्र; और नाम का प्रवेश-द्वार है, कर्ण। नाम प्रतीक है, समस्त वाक्जाल अथवा वर्णन (Description) का। इसलिए यदि कोई मुकुटमणि रूपी सर्वश्रेष्ठ आनन्द पाने का इच्छुक हो तो पहले

हैं, बहुत हो अल्प और शिथिल है। कुछ बातें ऐसी होती हैं कि उनका वर्णन न वाणी कर सकती और न लेखनी। इसलिये त्रुटि के लिये पाठक क्षमा करें। हमारा निवेदन इतना ही है कि हमारे दिये हुए विचारों को संकेत मात्र समझकर अपने अपने अनुरूप स्वयं अनुभव करने का प्रयास करें।

उसे अपने कर्णद्वारों पर ऐसा दृढ़ प्रबन्ध करना होगा कि यह नामरूपी शत्रु उनमें से प्रवेश कर भीतर न जा सके। तुलसी के अनुसार 'रा' वर्ण इस काम को सम्हालता है। यह कवि की केवल साहित्यिक कल्पना मात्र नहीं है। उसमें ठोस व्यवहारिक सत्यता है। रा अर्थात् 'र . . . . आ . . . .' को दीर्घ स्वर से कहकर देखिये तो भीतर की वायु, अथवा, यही कहिये, आवाज़ कानों के रन्ध्रों पर भीतरी पर्दा के रूप में इस तरह आकर डट जाती है कि बाहर की आवाज़ प्रवेश ही नहीं कर पाती। हमारा अनुभव है कि अच्छी प्रकार से की गई इस आन्तरिक गुंजार के कारण बाहरी तुमुल से तुमुल आवाज़ का भी प्रवेश रुक जाता है। इसी को दूसरे प्रकार से देखा जाय तो यह कह सकते हैं कि इस 'र. . . .आ. . . .' की गूंज न केवल कर्णरूपी द्वारों पर आ डटती है वरन् एक प्रबल सेनानी 'र. . . .आ. . . .'की अध्यक्षता में सारे 'आन्तरिक क्षेत्र में व्यवस्थित रूप से मोर्चे बनाकर ऐसी फैल जाती है कि शत्रुरूपिणी भाषा को प्रवेश-द्वार से ही हताश हो लौट जाना पड़ता है। यह है, 'रा' में निहित छत्र-भाव, जिसे तुलसी ने दर्शाया है। साधारणतया, अर्थकार उक्त दोहा का यह अर्थ लगाते हैं कि 'र' और 'म' को तुलसी ने सब वर्णों से श्रेष्ठ इसलिये कहा है कि 'र' उनके ऊपर रेफ के रूप में छत्र सा बनकर और 'म' उनके ऊपर विन्दु (अनुस्वार) के रूप में मुकुटमणि सा बनकर विराजता है। परन्तु इस अर्थ में केवल साहित्यिक कल्पना तथा अलंकारिक सुन्दरता की झलक है, व्यवहारिक सत्यता की नहीं। इसके अतिरिक्त इसमें हलन्त 'र' (अर्थात् र्) का भाव आता है न कि 'रा' का जो 'राम' का प्रथम वर्ण है, क्योंकि हलन्त 'र' का ही प्रदर्शन रेफ (र्) के रूप में किया जाता है, न कि 'र' या 'रा' का। तुलसी के हृदय में जगतहित अथवा लौकिक जीवन की सार्थकता का भाव इतना ठोस था कि उनके द्वारा दी गई प्रायः सभी उपमाओं में हमें न केवल साहित्यिक रस वरन् व्यवहारत्व भी मिलता है। 'राम' के इन्हीं दो वर्णों के विषय में उन्होंने जो दूसरी उपमायें दी हैं, उन सबों में जीवन सम्बन्धी दो सत्यताओं का भाव दर्शाया गया मिलता है—एक लोक-कर्म, और दूसरा उसे नियंत्रित रखने वाला ईश्वर-

भाव, अथवा एक कर्मरूपी स्थूल जीवन और दूसरा शांति (आनन्द) रूपी सूक्ष्म जीवन। यदि 'रा' 'जगपालक नर' है, तो 'म' 'जनत्राता नारायण' है; यदि 'रा' 'वसुधाधर कमठ' है, तो 'म' 'वसुधाधर शेष' है; यदि 'रा' 'सुगतिरूपी सुधा का स्वाद' है, तो 'म' उस स्वाद से उत्पन्न 'तोष' है; यदि 'रा' कर्मयोगी 'जीव' है, तो 'म' आनन्द रूप 'ब्रह्म' है। इसी तरह यदि 'रा', रक्षा करने वाला 'छत्र' है, तो 'म' उससे प्राप्त आनन्द रूप 'मुकुटमणि' है। हमारे इस भावार्थ के अनुसार उक्त दोहा में 'जो 'बरनन' (बरणन) शब्द आया है उसे वर्ण (अक्षर) का बहुवचन न समझकर 'वर्णन' (Description) का द्योतक समझना तुलसी की तद्विषयक विचारधारा तथा व्यवहारिक सत्यता की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। इस भाव के अनुसार उक्त पंक्ति का यह तात्पर्य होता है कि भाषिक प्रबन्धों में सबसे अधिक महत्वशाली शब्द 'राम' है।

यदि कोई हमसे यह पूछे कि उक्त प्रकार की रक्षा करना क्या केवल 'रा' वर्ण की ही विशिष्टता है तो हम कहेंगे, 'नहीं।' किसी भी वर्ण के दीर्घोच्चार से आन्तरिक ध्वनि वाह्य ध्वनि को रोक रखने में समर्थ है। तब फिर 'राम' ही क्योंकर सर्वोपरि हो सकता है? उसकी सर्वोत्कृष्टता है, अन्त्य 'म' में न कि 'रा' में। वही 'म' मुकुटमणि होकर राम-नाम को सर्वोपरि बनाता है। आप किसी ऐसे ईश्वरवाची नाम को ढूँढ़कर बताइये जिसमें न केवल मानवता-प्रद ईश्वरसम्बन्धी सभी गुणों का भाव प्रकट होता हो, वरन् उसे बोलते समय उसमें उपरोक्त हुँ-ध्वनि वाली आनन्द की पराकाष्ठा की अनुभूति प्रदान करने की भी क्षमता हो। हमने तो बहुत विचार कर देखा पर हमें कोई ऐसा नाम नहीं मिला। राम ही ऐसा नाम है जिसमें भावात्मक और ध्वन्यात्मक दोनों प्रकार की सम्पूर्णता की अनुभूति होती है। एक नाम-अवश्य ईश्वरवाची और है जिसके अन्त का वर्ण 'म' है और उसके उच्चारण करने में भी राम के सदृश अनुभूति होती है। वह है 'ओम्' (ॐ)? उसमें भी तीन वर्णों (अ + उ + म्) का योग है। उन तीनों में सृष्टात्मक आदि-मध्य-अन्त का भाव भी है और उनसे ध्वनि-क्रम भी वैसा ही निकलता

है जैसा र...आ....म् से निकलता है। इसलिये उच्चारण और ध्वन्यात्मक आनन्द की ृष्टि से राम और ओम् में समता है। ईश्वरभाव-दर्शीनामों में तुलसी के समय तक ओम् कदाचित् सबस अधिक प्राचीन, प्रचलित, शास्त्र-सम्मत और सर्व-सम्मानित था। फिर क्या कारण है कि 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं' की दुहाई देनेवाले तुलसी ने उसके स्थान में 'राम' को ही विशिष्टता देकर उसका घर-घर प्रचार किया? कारण यह है कि ओम् में आदि-मध्य अन्तसूचक भावों की समता होने पर भी वह व्यवहारिकता लक्षित नहीं होती जिसकी आवश्यकता लोक में रहने वाले हर मानव के लिये रहती है। वह ज्ञानियों और ध्यानस्थ योगियों को आनन्द दे सकता है, पर उस जनसाधारण को नहीं, जिसे लोक की जैटिल परिस्थितियों में ही रहकर अपने तथा समाज के लाभार्थ कर्म करना अनिवार्य होता है। उसमें यदि आनन्द-प्राप्ति का कोई व्यवहारिक प्रयोग है तो केवल वही जप का, जिसके द्वारा वैसा ही ध्वन्यात्मक आनन्द मिल सकता है जैसा कि राम-जप से मिलना बताया है। यथार्थ में ध्वनि के आधार पर ही उसका निर्माण किया गया प्रतीत होता है। पर उसमें ईश्वर-सम्बन्धी सगुणता की उपेक्षा है जो किसी प्रकार से टाली नहीं जा सकती। वह व्यक्तिगत आनन्द के सामने समाज के आनन्द की ओर फूटी आंख से भी नहीं देखना चाहता। संसार में कर्मयोगी अथवा यथाविधि जीवन-यापन करने वाले मानव के लिये केवल निर्गुणानन्द की कल्पना और ध्वन्यात्मक आनन्द की सक्रियता वैसी ही निरर्थक होती है जैसे भूखों के लिये कंचन का ढेर होता है। ओम् में इन्हीं त्रुटियों को देख तुलसी ने उस राम-नाम को पकड़ा जिसमें ओम् में निहित सब गुण तो हैं ही, परन्तु सगुणता अथवा व्यवहारसूचक वे गुण भी पाये जाते हैं जो ओम् में नहीं हैं। मानवों के सामने मानवता का प्रतीक ईश्वरावतारी राम का आदर्श के रूप में खड़ा किया जाना नितान्त आवश्यक था। इसलिये तुलसी ने ओम् की अपेक्षा त्रिभावात्मक राम का ही प्रचार किया।

सम्भव है, यहां हमारी बात का खंडन करने के हेतु कोई आपके सामने ईश्वरवाची 'श्याम' नाम को प्रस्तुत कर यह कहे कि उसका भी अन्त्य वर्ण

'म' है, और राम के समान उसके द्वारा भी मानवता का आदर्श कृष्ण के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। परन्तु निम्न कारणों से श्याम और राम की समता नहीं बैठती। एक तो 'श्याम' कोई स्वतंत्र नाम नहीं है। वह कृष्ण की उपाधि है, अथवा यह कहिये कि कृष्ण के उपासकों ने कृष्ण पर श्याम-संज्ञा का आरोप किया है। दूसरे, 'श्' के आने से 'श्याम' उस प्रकार त्रिदर्शीय.त्रिवर्णात्मक नहीं है जिस प्रकार 'राम' है। तीसरे, कृष्णचरित्र में आदर्शनीय उत्कृष्टता होते हुए भी रामचरित्र के समान सर्वक्षेत्रीय मर्यादा का प्रदर्शन नहीं मिलता। इसमें चाहे दोष स्वयं कृष्ण का रहा हो या उनके उपासकों का, जिन्होंने बाद में उनका चरित्र-चित्रण किया है।

ओम् और श्याम की इस चर्चा आने के पूर्व हम यह बता रहे थे कि 'रा' के दीर्घोच्चारी नाद से कर्ण-द्वारा बाहरी आवाज़ का प्रवेश नहीं हो पाता। यह दीर्घोच्चार घोष की बात हमने केवल तद्विषयक अनुभूति कराने के हेतु दृष्टान्तवत कही थी। यथार्थ में यह आवश्यक नहीं कि जप घोषपूर्वक ही किया जाय। जप चाहे जिस स्वर में किया जाय या बिना स्वर के मन ही मन किया जाय, उसका उद्देश्य केवल इतना ही रहता है कि उच्च भाव-पूर्ण शब्द का आश्रय लेकर निम्न भावयुक्त शब्दों का अपने अन्दर प्रवेश न होने दें ताकि मन विकारवान न हो। यदि कोई यह कहे कि जब यही उद्देश है कि नेत्र वा कर्णों के द्वारा विकार उत्पन्न करने वाला कोई रूप वा शब्द हमारे अन्दर प्रवेश न करने पावे तो यही क्यों न किया जाय कि नेत्र वा कान हमेशा के लिए फोड़ डाले जायँ, जैसा कि विल्वमंगल (सूरदास)ने अपने नेत्र फोड़ लिए थे। परन्तु इस तरह के उपायों का आश्रय लेना मूर्खता का ही चिह्न होता है। एक तो, इन ईश्वरदत्त ज्ञानोपार्जन के साधनों का विनाश कर लेने से हम भविष्य में ज्ञान-प्राप्ति से वंचित हो जाते हैं। दूसरे, जब तक मन संयमी नहीं होता तब तक इन्द्रिय-विनाश से कोई लाभ नहीं मिलता, क्योंकि यथार्थ में विषय-रसों का भोक्ता तो वही रहता है न कि इन्द्रियां। इसीलिये भक्तों का कहना है कि मन को ईश्वर-चिन्तन अथवा नाम-जप में लगाये रहो। जिस बात को भक्त ईश्वर-चिन्तन या जप आदि कहकर

दर्शाता है उसी को तत्त्वदर्शी गीताकार निम्न श्लोक में 'परंदृष्टा' (अर्थात् पर-तत्त्व पर दृष्टि लगाये रहना) कहकर बताता है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥४३॥[43]

(ग) पथ के भयावह स्थल (Danger spots) मानस में जय और विजय का उल्लेख और उन पर हमारा समीक्षात्मक दृष्टिपात—

सड़कों पर, आपने देखा होगा, कई स्थानों पर लाल रंग से 'खतरा' शब्द लिखा हुआ मिलता है उसको देखते ही पथिक समझ जाते हैं कि वहां कोई न कोई जान-जोखिम की बात अवश्य है। इसलिये वे उससे बचने के अभिप्राय से सावधान होकर चलने लगते हैं। जो मार्ग जितना दुर्गम होता है उतने ही अधिक खतरों का सामना पथिक को करना पड़ता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष मार्गों की अपेक्षा जन-क्षेत्रीय कर्तव्य-पथ महाकठिन होता है। उस पथ पर चलने वाले पथिक को जन-क्षेत्रीय विविध भांति की मानसिक गुत्थियों को सुलझाते हुए निर्भीक होकर अपने कर्तव्य को पूरा करना पड़ता है। इसलिये उसके मार्ग में एक-दो नहीं, अनेक भयावह स्थल पड़ते हैं। यदि यह पथिक इस साधारण को लेकर चले कि उसे न केवल लोकसेवा ही करना है, वरन् परलोक भी सुधारना है, तो उसे उन लोगों की अपेक्षा, जो केवल एक ही प्रकार की धारणा से प्रभावित होकर वर्तते हैं, विशेष रूप से सतर्क रहकर मार्ग पार करना होता है। तुलसी की धारणा यही द्विविधा थी, और पथ उन्होंने चुना था, क्रान्ति का, जो सहज ही साधारण पथ से अधिक भयंकर होता है। शरीर-दण्ड की दृष्टि से निर्भीक रहते हुए भी ऐसे क्रान्तिकारी लोक-सेवक को इस बात का विशेष भय रहता है कि उसकी मानसिक और आत्मिक गति न बिगड़ने पावे। इससे बचन के लिये पूर्वगामी सभी सच्चे लोकसेवी पथिकों ने दो स्थलों को ऐसे भयंकर बताये हैं कि वहां पहुंचने पर बिरला ही सकुशल बच पाता है। वे हैं, जय और विजय।

---

४३. गीता २ : ५९

मानस में तुलसी ने इनके विषय में यह लिखा है—

"द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ, जय अरु विजय जान सब कोऊ।
विप्र शाप तें दूनउ भाई, तामस असुर देह तिन्ह पाई।
कनक कसिपु अरु हाटक लोचन, जगत विदित सुरपति मद मोचन।
विजई समर बीर विख्याता, धरि वराह वपु एक निपाता।
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा, जन प्रहलाद सुजस विस्तारा।
दो०—भए निसाचर जाइ तेइ, महावीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट, सुर बिजई जग जान॥"[४४]

पौराणिक गाथाओं की उपयोगिता जो भी पुराण-काल में तथा उसके पश्चात् रही हो, पर आज के युग में उनसे पाठक की बुद्धि अनेक स्थलों पर भ्रम में पड़ जाती है, क्योंकि उनमें मानवीय आन्तरिक गतियों पर व्यक्तित्व का आरोप किया हुआ मिलता है, जैसा हम पहले किसी दूसरे प्रसंग के समय कह आये हैं। जय और विजय सम्बन्धी गाथा से भी, जिसका उल्लेख तुलसी ने उक्त पंक्तियों में किया है, इसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो उठता है। हम जय और विजय को उक्तनामधारी दो व्यक्ति समझने लगते हैं, और हरि को एक महल में रहनेवाला मान बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि हम उसके मूलार्थ से वंचित होकर जीवनोपयोगी लाभ से हाथ धो बैठते हैं। उसका गूढ़ार्थ जिस तरह हम समझे हैं वही पाठकों के विचारार्थ यहां प्रस्तुत किया जाता है।

मानस के उक्त उल्लेख में जय और विजय के अतिरिक्त कई और दूसरे नाम भी आपको पढ़ने मिलते हैं, और प्रत्येक के बारे में आपको कुछ न कुछ गाथायें भी मिलती हैं। परन्तु उन सब के गूढ़ार्थ पर यहां विचार करना न सम्भव है और न आवश्यक ही। इसलिए केवल जय और विजय से सम्बन्धित भावों का प्रदर्शन किया जायगा। उन पर कुछ कहा जाय

---

४४. मानस, बा० कां० १२१।४-८; १२२

उसके पूर्व पाठक एक बात तो यह ध्यान में रखें कि हरि महलादि में रहने वाला कोई व्यक्ति-विशेष नहीं पर वह है समष्टि और व्यष्टि रूप सर्व-व्याप्त सत्। दूसरी बात है, हमारे द्वारा पूर्व में कथित 'विप्र' और 'श्राप' की व्याख्या।

जय और विजय की गाथा में नियंत्रित लोक-कर्म की प्रधानता दर्शाई गई है। नियंत्रित लोक-कर्म करनेवाले को दो फल मिलते हैं—(१) लोक-यश, और (२) आत्मानन्द अर्थात् हरि-भक्ति या हरि-सेवकाई।

लोक-कर्म में संलग्न रहनेवाले को जब किसी कार्य में सफलता मिलती है तो कहते हैं उसकी विजय हुई और जब वह अपनी संलग्नता के कारण कई विजयों के पश्चात्, अथवा एक ही कर्म में कई दिनों तक लगे रहने के पश्चात् लोक-प्रिय बन जाता है तब उसकी जय बोली जाने लगती है। इस तरह जो अपने लोक-कर्मों के कारण विजयी और जयी होकर लोक-यश का भागी बन जाता है तब वह हरि का प्यारा कहाता है। जो स्वामी का प्यारा या विश्वास-पात्र होता है उसी को ड्योढ़ी या द्वार-रक्षा का कार्य-भार सौंप जाता है। इसलिये अलंकारिक भाषा में जय और विजय को दो भाई कहा गया है, क्योंकि उन दोनों की उत्पत्ति लोक-कर्म से होती है। और इसलिये वे हरि के द्वारपाल कहे गये हैं।

विजय प्राप्त होने पर विजयी बहुधा लोक-वैभव की लालसावश अनेकों आशाओं से बद्ध होकर सत्कर्मों को छोड़ दुष्कर्म करने लगता है, जिससे उत्सर्ग के बदले वह पतनोन्मुख बन जाता है, जैसा कि गीता के सोलहवें अध्याय के १२वें श्लोक से लेकर १६वें श्लोक तक बड़े सुन्दर रूप में बताया गया है। ऐसे लालसी लोग विषय-भोगों के हेतु अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थों को संग्रह करने की ही इच्छाओं में रत बने रहते हैं—'ईहन्ते कामभोगार्थ अन्यायेनार्थ संचयान्।' विजय-प्राप्त यदि, एक ओर, धर-पकड़ आदि करने में लगकर पतित होता है, तो जय-प्राप्त, दूसरी ओर, आलस्यवश कर्महीन होकर पतित बनता है। इस तरह मनुष्य का उत्सर्ग और पतन उसके कर्मों के अधीन रहता है। सत्कर्म ही ब्राह्म कर्म कहलाते हैं, और ब्राह्म-कर्म ही विप्र-

संज्ञा का द्योतक है। जो कर्म ब्राह्मकर्म के विरुद्ध होने के कारण उसे नष्ट करने वाला हो, वही विप्र का श्राप है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य तामसी और आसुरी वृत्ति का बन जाता है। यह तामसी वा आसुरी वृत्ति एक बार आंई कि फिर उसे देववृत्ति में परिवर्तित करने के लिये बहुत समय लगता है, और वह तभी सम्भव होता है जब पुनः ब्राह्म कर्म की ओर रुचि बढ़े। यही रहस्य आपको मानस के उक्त उल्लेख में छिपा हुआ मिलता है। जय और विजय का विप्र-श्राप-वश जो एक जन्म में क्रमशः कनककसिपु और हाटक लोचन, तथा दूसरे जन्म में कुंभकरन और रावण होना बताया गया है वह यथार्थ में तामसी-आसुरी वृत्ति का क्रमानुगत ह्रास का रूप है। प्रारम्भ में ही यदि उक्त दुष्टवृत्ति न दबाई गई तो वह बढ़ती ही जाती है। कनककसिपु अर्थात् कनककश्यप साधारणतया हिरण्यकश्यप नाम से और हाटकलोचन साधारणतया हिरण्याक्ष नाम से प्रसिद्ध हैं।

कश्यप का अर्थ होता है, गद्दा, सेज, सोफा आदि; और कनक, हाटक तथा हिरण्य तीनों के माने होते हैं, सोना या कंचन, इसलिये कनक कश्यप अथवा हिरण्यकश्यप का अर्थ हुआ, कंचन-सेज, जो आलस, प्रमाद, आराम-तलबी अथवा अकर्मण्यता का प्रतीक होता है—कहावत भी है 'बिछा पाई सेज, पौढ़ पाये संइयां; इस तरह श्राप के बाद जय का जन्म तो हिरण्यकश्यप के रूप में होना बताया; और विजय को, जिसकी आंख सदा अर्थ-संचय और भोगों पर गड़ी रहती है, हाटकलोचन या हिरण्याक्ष होना बताया, क्योंकि लोचन और अक्ष दोनों के माने होते हैं आंख। यही दुष्वृतियां जब और वृद्ध होती हैं तो उनका प्रकट स्वरूप इससे भी अधिक भयंकर एवं दुष्परिणामी होता है। यही भाव यह कहकर दर्शाया गया है कि प्रथम जन्म का आलसी 'जय' दूसरे जन्म में हिरण्यकश्यप हुआ, और तीसरे जन्म में जाकर वही छः छः माह तक खुर्राटे लेकर सोनेवाला आलसी वामनों खाने-पीनेवाला प्रमादी कुंभकर्ण बन गया; तथा प्रथम जन्म का कामी 'विजय' दूसरे जन्म में हिरण्याक्ष हुआ और तीसरे जन्म में जाकर वही भू-पातालादि लोकों को जीतने तथा व्यभिचार करनेवाला रावण बन गया। इस तरह तामसी और

आसुरीवृत्ति का प्रारम्भ होना ही खराब होता है। यदि वह यथाविधि न रोकी गई तो यहां तक बढ़ जाती है कि सुरवृत्ति बिलकुल दब जाती है, जैसा किं उक्त उल्लेख में, आये हुए दोहा की इस अन्तिम पंक्ति में बताया है—'कुम्भकर्ण रावण सुभट, **सुरविजई जग जान।"**

ये हैं लोक-सेवा-पथ में मिलने वाले जय और विजय नामके दो भयंकर गड्ढ़े, जिनसे बचकर चलने के लिये तुलसी ने प्रथम से ही विचारकर रखा था। अपने पूर्वगामियों के द्वारा उन्हें यह भलीभांति ज्ञात हो चुका था कि यदि किसी पथिक का पद उस ओर थोड़ा भी खिसका तो उसके रसातल पहुंचने में कोई सन्देह नहीं। क्रांति का कार्य साधारण लोक- सेवा के कार्य की अपेक्षा उतना ही शीघ्रगामी और जटिल होता है जितना कि मोटर-यात्रा का कार्य-पद-यात्रा के कार्य की अपेक्षा हुआ करता है। इसलिये क्रान्ति-कारी तुलसी ने अत्यन्त संयमी बनना स्वीकार किया ताकि वह विशिष्ट-सावधानी से उक्त महाभयावह स्थलों से बच निकले। यदि वह संयमी न होता तो निश्चय ही अनेक पथिकों के समान अपने उस अस्तित्व को, जो आज सूर्यसम प्रकाशित हो रहा है, खो बैठता।

तुलसी की क्रान्ति का प्रचार

अध्याय प्रवेश:—

गत दो अध्यायों में हम तुलसी की क्रान्ति-योजना पर विचार कर चुके। योजनायें सामान्यतः सिद्धान्त-प्रधान हुआ करती हैं। इसलिये उनमें प्रायः सभी को क्लिष्टता और अरुचि की प्रतीति होती है। चूंकि तुलसी की क्रान्ति के स्तम्भ धर्म-सिद्धान्त हैं, और चूंकि तुलसी के वे धर्म-सिद्धान्त भ्रम-धूम्र से आच्छादित होने के कारण अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक क्लिष्ट और अरुचिकर प्रतीत होते हैं, इसलिये हमें उन पर विस्तार पूर्वक अपने विचार प्रकट करने पड़े। जप-विस्तार को देखकर पाठक यह न समझें कि तुलसी का प्रधान उद्देश कर्म-योग को भुलाकर केवल राम-नाम की माला टारने अथवा 'हुँ' ध्वनि करके आनन्द उठाने का ही था। यदि यही उद्देश होता तो उन्होंने 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करै सो तस फल चाखा' यह कदापि न कहा होता। उनका मूल उद्देश तो कर्म-योग ही था, जैसा कि सर्व-शास्त्र सम्मत है। ईश्वर चिन्तन का आग्रह उन्होंने केवल उस उद्देश की यथा विधि पूर्ति के हेतु किया है, जैसा कि हम बार-बार इसके पूर्व में कह आये हैं। इसलिये तुलसी के विविध विचारों की समीक्षा कर लेने तथा उन विचारों पर आधारित उनके व्यक्तिगत आचारों का अनुसन्धान लगा लेने के उपरान्त अब हम इस अध्याय में उनके उन सामाजिक कार्यों पर दृष्टि डालेंगे जिनके द्वारा उन्होंने समाज-क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। चूंकि इस सम्बन्ध में न तो हमने स्वयं देश-भ्रमण आदि करके प्रचुर सामग्री एकत्र कर पाई है और न अन्य अन्वेषकों ने इस ओर विशेष लक्ष्य देकर

तत्सम्बन्धी कोई प्रामाणिक साधन प्रस्तुत किया है, इसलिये इस परिच्छेद में जो कुछ आपको पढ़ने मिलेगा वह अति अल्प ही होगा। यह केवल भावी अन्वेषकों को उस ओर ले जाने के लिए एक नवीन मार्ग का काम दे सकेगा।

जब तक किसी को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि यह सृष्टि गुण-अवगुणों से सनी प्रपंच रूप है, और जब तक उसके मन में यह उत्तेजना नहीं आती कि वह निर्भीकता पूर्वक उन अवगुणों का त्याग करे और करावे, तब तक न तो स्वह स्वयं क्रान्ति-पथ पर आरूढ़ हो सकता है और न दूसरों को आरूढ़ करा सकता। तुलसी को बाल्यकाल से ही गुरु नरहरिदास के अथवा अनुसन्धान कर्ताओं में तत्संबंधी मत-भेद होने के कारण वह जो कोई भी हो उसके साथ स्थान-स्थान पर भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ था, जिसके फलस्वरूप उन्हें तत्कालीन भारतीय समाज में प्रचलित गुण-अवगुणों की जानकारी हो चुकी थी, और उनके मन में उन अवगुणों को निकाल-फेंकने की इच्छा भी जागृत हो चुकी थी मानस में कथित 'विधि प्रपञ्च गुण अवगुण साना' तथा 'खल गह अगुण साधुगुण गाहा' आदि कतिपय पदों से उनकी उक्त इच्छा का परिचय सहज में मिल जाता है। जब उनकी यह इच्छा थी कि वे स्वयं तथा अन्य जन सभी गुणों को ग्रहण कर अवगुणों का त्याग कर रहे तभी तो उन्होंने गुण-अवगुणों की कुछ रूप रेखा खींच कर अन्त में यह कहा—'नेहिते कछु गुण दोष बखाने, संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'

प्रचलित विचार-धाराओं और सामाजिक कुरीतियों आदि के विरुद्ध बुलन्द आवाज़ का उठाना तथा उन्हें जड़ से खोद फेंकने के लिये कदम उठाना सहज काम नहीं होता। ये बातें वही वीर पुरुष कर सकता है जिसमें स्वार्थ-त्याग की भावना ऐसे उच्च शिखर पर पहुँच गई हो कि आवश्यकतावश वह न केवल अपने शरीर सुख को ठुकरा सके, वरन् अपने प्राणों की भी बाजी लगा दे। दूसरे शब्दों में निर्भीकता ही उसका जीवन-धन हो। तुलसी तो निर्भीक थे ही, जैसा कि उनकी साहित्यिक कृतियों में कथित वाक्यों से स्पष्ट है। परन्तु उन्होंने दूसरों को भी उसी प्रकार निर्भीक बनाने का प्रयास किया।